भावार्थ— इस प्रकारके घरमें रहनेसे संसारका बडा भार बहुत हलका होगा । जिस प्रकार कुलवधूका संरक्षण और पोषण लोग करते हैं उसी प्रकार ऐसे घरकी रक्षा करना चाहिये और इस घरमें उत्तमोत्तम पदार्थ लाकर रखने चाहिये ॥ २४ ॥

घरकी चारों दिशाओं और उपदिशाओंमें जो सुंदर दृश्यों की महिमा होगी, उसकी सत्कारपूर्वक प्रसन्नता बढानी चाहिये । उत्तम प्रशंसनीय पृथ्वी, आप, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, आदि देवोंकी प्रसन्नता इस घरपर रहेगी, ऐसा आचार व्यवहार करना चाहिये ॥ २५-३१ ॥

घरकी प्रसन्नता ।

गृहनिर्माण करनेका और उसको आनंदित, प्रसन्न तथा उत्तम स्वास्थ्यसंपन्न रखनेका उपदेश इस सूक्तमें है । घर उत्तम प्रमाणसे निर्माण किया जावे, उसके स्तंभ, ऊपरकी लकडियां, छप्परका लकडीका सामान सब सुंदर तथा सुव्यवस्थित होवे और सब जोड अच्छे प्रकार मजबूत किये जावें । किसी स्थानपर कमजोरी न रहे । क्योंकि सब घरवालोंका स्वास्थ्य घरकी सुरक्षितता पर निर्भर है । ऐसा सुंदर और मजबूत घर रहनेवालोंके कष्टोंको दूर कर सकता है, परंतु कमजोर और अशक्त तथा बेख्यालसे बनाया गया घर रहनेवालोंका कब नाश करेगा, इसका भी पता नहीं होगा ।

सुतार, तक्षाण और अन्य कारीगर ऐसे लगाये जावें कि जो संधिस्थानोंको (पर्वसंधि विद्वान् शस्ता) अच्छी प्रकार काटने और जोडनेकी कला जाननेवाले हों । बांस, लकडियां, घास, चटाइयां आदि जो भी सामान घरमें रखनेका अथवा घरपर लगानेका हो वह सब उत्तम, निर्दोष और सुव्यवस्थासे रखा जावे ।

गृहनिर्माण करनेकी विद्या जाननेवाले को ' मानपति ' कहते हैं । वह घरके प्रमाण से नकशा तैयार करता है और उसी प्रमाणसे भूमिपर रचना करवाता है । इसके लिए प्रमाणोंसे प्रमाणयुक्त जो घर होता है वह सुखदायी होता है । ' मानपति ' (इंजिनियर) को ' सूत्रधार ' भी कहते हैं क्योंकि यह सूत्रसे सबका प्रमाण दिखाता है । इस ' मानपती ' द्वारा बनाई होनेके कारण इस शालाको ' मान-पत्नी ' कहते हैं, इसका शब्दार्थ " प्रमाण दर्शानेमें जो कुशल कारीगर है उसके प्रमाणसे इसकी पालना हुई है । " हरएक घरके विषयमें यह सत्य है ।

घरमें छीके टंगे हों और उनपर घृतदुग्धादि पदार्थ रखे जांय । यहां ये पदार्थ रखनेसे चूंटियों और चूहोंसे बचते हैं । और इस कारण आरोग्य देनेवाले होते हैं ।

घर (उद्धित) ऊंचे स्थानपर और ऊंचा हो । ठिगना न हो क्योंकि ऊंचे घरमें शुद्धवायु आता है जो मनुष्योंको नीरोग बना देती है । अतः कहा है कि—

उद्धिता शाला तन्वे वै भवति (म० ६)

'ऊंचा घर शरीरके लिए सुखकारक होता है । ' वैसा ठिगना नहीं होता । घरमें एक उपासना करनेका स्थान, संध्या हवन करनेका योग्य कमरा, एक भोजनशाला, एक स्त्रियोंके लिए स्थान, एक अतिथियों और घरवालोंके रहनेका स्थान, एक धान्यादिका संग्रह स्थान ऐसे अलग अलग कमरे हों । घरकी छतपर सुंदर कपडा ताना जावे, जिससे कमरेकी शोभा बढती है । घरमें रहनेवाले ऐसा कहें कि घरका निर्माण करनेवाला " मानपति " (इंजिनियर) और बनानेवाले कारीगर दीर्घ आयुतक जीवित रहें । घरमें रहनेवालोंको सुख हुआ तो ही वे ऐसा कहेंगे, अतः बनानेवाले लोग कुशलतापूर्वक गृहनिर्माणका कार्य करें । और घरमें रहनेवालोंको सुख लगे, इस विचारसे घर बनावें । केवल वेतनके लिए बनाया जाय तो यह बात नहीं बनेगी । वह तो एक परस्पर प्रेमका विचार है । इसी विचारसे ग्रामके कारीगर और गृहके स्वामी इनमें परस्पर हितकी बुद्धि जाग्रत रहेगी ।

वृक्ष काटनेवाले, विविध लकडियां बनानेवाले, अन्य गृहोपयोगी सामान संग्रहित करनेवाले, जोडनेवाले और घरमें रहनेवाले इन सबकी सहकारितासे घर निर्माण होता है, अतः ग्राममें इनकी सहकारिता होनी चाहिए । और एकका हित दूसरेको करना चाहिये घरका स्वामी धनवान और प्रतिष्ठित क्यों न हो, परंतु जिस समय वह लकडी काटनेवालेको मिले, वह (तस्मै दात्रे नमः)उस लकडी काटनेवाले को नमस्कार करे, वह लकडी काटनेवाले निर्धन ही क्यों न हो, परंतु वह घरके मालिकसे मिले तो वह (शालापतये नमः) घरके स्वामीको नमस्कार करे । इस प्रकार ये लोग परस्पर सन्मान करें, एक दूसरेका आदर करें । कोई किसीका निरादर न करे ।

यहांतक आदर दर्शाना चाहिए कि घरका स्वामी अपने घोडों, गौवों, बैल आदि पशुओंका भी उत्तम प्रकार आदर सत्कार करें । इस प्रकार जहां सबका सत्कार होता है ऐसे घरमें रहनेवाले मनुष्य उत्तम आनन्दका अनुभव करेंगे, इसमें संदेह ही क्या हो सकता है ?

घर ऐसा बनाया जावे कि जो पीछेके आकाशपर सुंदर दिखाई देवे । घरके आसपास की शोभा वृक्षादिकोंसे सुंदर दिखाई देवे । और प्रयत्नसे अधिक सौंदर्य बनाया जावे । घरके मध्यमें अत्यंत सुरक्षित स्थानमें धन, जेवर आदि रखनेका स्थान—खजानेका कमरा—बनाया जावे । (शेवधिभ्यः उदरं) जैसा मनुष्यके शरीरमें पेट बीचमें होता है, अतिसुरक्षित स्थानपर होता है, उसी प्रकार यहां घरके मध्यमें खजानेका कमरा बनाया जावे । घरमें धान्यके स्थानमें सब प्रकार (ऊर्जः) धान्य, (विश्वान्नं) अन्नकी सामग्री संग्रहित की जावे, (पयः) जल, पेय पदार्थ, रसपानके साधन घरमें भरपूर हों । ऐसा घर सब रहनेवाले पारिवारिक जनोंको सुख देता है ।

घरके स्तंभ ऐसे बलवान हों जैसे हथिनीके पांव होते हैं, क्योंकि इन्हींपर घरका छप्पर आदि रहता है । दूसरा मजला करना हो तो एकके ऊपर दूसरा बनाया जावे, जैसे (कुलाये अधि कुलायं) घोसला एकपर दूसरा बनाते हैं और (कोशे कोशः) एक कोश पर दूसरा कोश रखा जाता है । नीचेका स्थान मजबूत हो, नहीं तो ऊपरके भारसे निचला स्थान दब जायगा । ऐसे उत्तम घरमें मनुष्यका जन्म होवे । सभी प्राणियोंके लिए ऐसे स्थान बनाये जावें। पक्षी भी प्रसूतिके पूर्व उत्तम घोसले निर्माण करते हैं, पशु भी सुरक्षित स्थान देखते हैं, यह देखकर मनुष्योंको अपने घरोंमें प्रसूतिके लिए उत्तम स्थान बनाने चाहिये ।

घरमें दो, चार, छः, आठ, दस कमरे अथवा चौक बनाये जा सकते हैं । अंदर रहनेवाले मनुष्योंकी संख्याके अनुसार तथा उस घरमें होनेवाले कार्योंके अनुसार घर छोटा या बडा होना चाहिए ।

अग्निर्ह्यन्तरापश्चतस्य प्रथमा द्वाः । [मं २२]

"घरमें अग्नि और जल अवश्य रहे, क्योंकि इन्हींसे सब प्रकारके यज्ञ होते हैं।" कोई अतिथि आगया तो उसको श्रमपरिहारके लिए कमसे कम जलपान दिया जावे, और शीतनिवारणके लिए आगके स्थान के पास उसको बिठलाया जावे। ये दो पदार्थ गरीबसे गरीब और धनीसे धनी मनुष्यके घरमें अवश्य रहें और इनसे आदरातिथ्य होता जावे । मनुस्मृतिमें भी कहा है कि–

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ।

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन । [मनु ० ३। १०१]

" बैठनेके लिए चटाई, भूमि, जल और मीठा भाषण ये चार बातें अतिथिके आदरके लिए सज्जनोंके घरमें कभी न्यून नहीं होतीं । " यहां उदक है । वेदके ऊपरके मंत्रमें जल पीनेके लिए और आग सेकनेके लिए प्रत्येक घरमें अवश्य रहे ऐसा कहा है । अतिथिके समादरके ये प्रकार ध्यानसे देखने योग्य हैं । घरमें जल रखना हो तो उत्तम निर्दोष रखना चाहिये इस विषयमें सूचना यह है–

अयक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः आपः प्रभरामि । गृहान् उपप्रसीदामि । [मं० २३]

" मैं घरमें ऐसा जल भरता हूं कि जो स्वयं रोग उत्पन्न करनेवाला न हो और जो रोगोंको दूर करनेवाला हो । इस रीतिसे मैं घरकी प्रसन्नता बढाता हूं। " हरएक गृहस्थी ऐसा ही कहे और अपने घरकी अधिकसे अधिक प्रसन्नता करनेका यत्न करे । [वधूं इव] जैसे स्त्रीकी रक्षा करना चाहिए उसी प्रकार गृहकी भी रक्षा करना योग्य है । यहां वधूकी प्रसन्नता रखना, उसको हृष्टपुष्ट रखना, निर्दोष रखना, सुरक्षित रखना आदि बातें जानने योग्य हैं और इस दृष्टांतसे घरकी सुरक्षितताकी बातें भी जानी जाती है । शाला [घर] भी एक कुलवधु है ऐसा मानकर उसकी सुरक्षितता और शोभाके बढानेके लिए प्रयत्न करना चाहिए । ऐसा करनेसे ही [गुरुः भारः लघुः] संसार का बडा भारी बोझ बहुत हलका हो जाता है ।

जहां ऐसे ढंगसे कुलवधुके समान घरकी सुव्यवस्था की जाती है, वहां घरके चारों ओरकी दिशा और उपदिशाएं प्रसन्न होती हैं, और वहां देवताओंका निवास होनेयोग्य स्थान बनता है । और घरकी महिमा बढ जाती है ।

हरएक गृहस्थी अपने घरकी महिमा इस प्रकार बढावे और अपना घर देवताओंके निवास करने योग्य करे और अपने सिरपरका संसारका बोझ हलका करे ।

*

बैल ।

[४] .

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता-ऋषभः)

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान् विश्वा रूपाणि बिभ्रत् ।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन् बार्हस्पत्य उस्रियस्तन्तुमातान् ॥ १ ॥

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी ।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥ २ ॥

पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः पयस्वान् वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति ।
तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानैर्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः ॥ ३ ॥

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम् ।
वत्सो जरायु प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा घृतं तद् वस्य रेतः ॥ ४ ॥

अर्थ— [साहस्रः त्वेषः] हजारों शक्तियोंसे युक्त तेजस्वी, [पयस्वान् ऋषभः] दूधवाला बैल [बहुणासु विश्वा रूपाणि बिभ्रत्] नदी तीरोंपर बहुत रूपोंको धारण करता हुआ [बार्हस्पत्यः उस्रियः] बृहस्पतिके संबंधका यह बैल [दात्रे यजमानाय भद्रं शिक्षन्] दान देनेवाले यजमानके लिए भलाईकी शिक्षा देता हुआ [तन्तुं आतान्] यज्ञके धागेको फैलाता है ॥ १ ॥

[यः अग्रे] जो पहिले [अपां प्रतिमा बभूव] जलोंके मेघकी उपमा हुआ करती है [देवी पृथ्वी इव] पृथिवी देवीके समान [सर्वस्मै प्रभूः] सब पर प्रभाव चलानेवाला, [वत्सानां पिता] बच्चोंका स्वामी [अघ्न्यानां पतिः] गौवोंका पति [नः] हमें [साहस्रे पोषे अपि कृणोतु] हजारों प्रकारकी पुष्टिमें करे, रखे ॥ २ ॥

[पुमान् अन्तर्वान्] पुरुष अपने अन्दर शक्ति धारण करनेवाला, [स्थविरः पयस्वान्] बडा दूधवाला [ऋषभः वसोः कबन्धं बिभर्ति] बैल धनके शरीरको धारण करता है । [तं देवयानैः पथिभिः हुतं] उस देवयान मार्गोंसे समर्पितको [जातवेदाः अग्निः इन्द्राय वहतु] जातवेद अग्नि इन्द्रके लिए ले जाये ॥ ३ ॥

[वत्सानां पिता] बच्चोंका पिता, [अघ्न्यानां पतिः] गौवोंका पति, [अथो] और [महतां गर्गराणां पिता] बडे प्रवाहोंका पालक, [वत्सः जरायु] बच्चा जेर से आवर [प्रतिधुक् पीयूषः] प्रतिदिन अमृत का दोहन करता हुआ [आमिक्षा घृतं] दही और घी देता है [तत् उ अस्य रेतः] वह निःसन्देह इसका वीर्य है ॥ ४ ॥

भावार्थ— बैल हजारों शक्तियोंसे युक्त है । बैल ही दूधवाला है । नदियोंके तटोंपर इसके विविध रूप दीखते हैं । इसका दान करनेसे हित होता है और यज्ञका प्रचार होता है ॥ १ ॥

इसको जलदायी मेघोंकी उपमा दी जाती है । पृथ्वी देवीपर यह अधिक प्रभाववाला है, यह बछडोंका पिता और गौवोंका पति है । इससे हमारी हजारों प्रकारकी पुष्टी होती है ॥ २ ॥

यह पुरुष है, इसके अन्दर शक्ति है, यह सामर्थ्यवाला और दूधवाला है । यह धनका धारण करता है । उस समर्पित हुए को जातवेद अग्नि इंद्रके लिये देवयानके मार्गों से लेजाता है ॥ ३ ॥

देवानां भाग उपनाह एषोऽपां रस ओषधीनां घृतस्य ।
सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद् यच्छरीरम् ॥ ५ ॥
सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम् ।
शिवास्ते सन्तु प्रजन्वऽइह या इमा न्यऽस्मभ्यं स्वधिते यच्छ या अमूः ॥ ६ ॥
आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः ।
इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान् देवाः शिव एतु दत्तः ॥ ७ ॥
इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत् ।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः ॥ ८ ॥

अर्थ-[एषः देवानां उपनाहः भागः] यह देवोंका समीप स्थित भाग है, [अपां ओषधीनां घृतस्य रसः] जल का औषधियोंका और घीका यह रस है, [सोमस्य भक्षं शक्रः अवृणीत] यही सोमका रस इन्द्रने प्राप्त किया, इसका [यत् शरीरं बृहत् अद्रिः अभवत्] जो शरीर था वही बड़ा मेघ बना है ॥ ५ ॥

[सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि] सोमरससे परिपूर्ण कलशका तू धारण करता है। और तू [रूपाणां त्वष्टा] रूपोंका बनानेवाला और (पशूनां जनिता) पशुओंका उत्पादक है, (याः इमाः ते प्रजन्वः) जो ये तेरे सन्तान हैं वे (शिवाः सन्तु) हमारे लिए शुभ हों। हे (स्वधिते) शस्त्र ! (याः अमूः अस्मभ्यं नि यच्छ) जो वहां हैं वे हमारे लिए दें ॥ ६ ॥

(अस्य घृतं आज्यं) इसका घी और आज्य (रेतः बिभर्ति) वीर्यको धारण करता है। (साहस्रः पोषः) जो हजारोंका पोषक है (तं उ यज्ञं आहुः) उसको यज्ञ कहते हैं। (वृषभः इन्द्रस्य रूपं वसानः) बैल इन्द्रका रूप धारण करता हुआ, हे (देवाः) देवो ! (सः दत्तः अस्मान् शिवः आ एतु) वह दान दिया हुआ हमारे पास शुभ होकर प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

(ये धीरासः) जो धैर्यवाले और (ये मनीषिणः कवयः) जो मननशील कवि हैं वे (एतं संभृतं बृहस्पतिं आहुः) इस संभारयुक्तको बृहस्पति कहते हैं तथा यह (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्रकी शक्ति, (वरुणस्य बाहू) वरुणके बाहू, (अश्विनोः अंसौ) अश्विदेवोंके कन्धे, (मरुतां इयं ककुद्) मरुतोंकी यह कोहनि है ऐसा कहते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ- बछड़ोंका पिता और गौओंका पति, बड़ी जलधाराओंका स्वामी, जन्मते ही अमृतका दोहन करके देता है, तब दही और घी देता है, मानो यह इसीका बल है ॥ ४ ॥

यह दूध देवोंका भाग है, यह औषधियोंका रस है, यह सोमरसके साथ दिया जाता है। इसके शरीरको मेघकी ही उपमा है ॥ ५ ॥

सोमरससे भरा हुआ कलश यह धारण करता है, यह गौ आदिका उत्पन्न कर्ता, विविध रूपोंका बनानेवाला है, इसके सन्तान हमें कल्याणदायी हों, शस्त्र इनकी रक्षा करके हमें देवें ॥ ६ ॥

यह घी, और वीर्य धारण करता है, हजारों प्रकारकी पुष्टि देता है· अतः इसको यज्ञ कहते हैं। यह इन्द्रका रूप धारण करके हमारे लिए शुभ होवे ॥ ७ ॥

जो धैर्ययुक्त कवि और ज्ञानी हैं वे इसको देवताओंकी शक्तियोंसे युक्त मानते हैं, इसमें बृहस्पति, इन्द्र, वरुण, अश्विनौ मरुत् इनकी शक्तियां हैं ॥ ८ ॥

दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः ।
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ ९ ॥
बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः ।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १० ॥(९)
य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत् । तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया ११
पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति ॥ १२ ॥
भसदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः ।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः ॥ १३ ॥
गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन् ।
उत्थातुरब्रुवन् पद ऋषभं यदकल्पयन् ॥ १४ ॥

अर्थ—तू (पयस्वान् दैवीः विशः आ तनोषि) दूधवाला दिव्यगुणी प्रजाको उत्पन्न करता है। (त्वां इन्द्रं) तुझे इन्द्र और (त्वां सरस्वन्तं आहुः) सारवाला कहते हैं (यः ब्राह्मणः) जो ब्राह्मण (ऋषभं आ जुहोति) बैलका दान करता है (सः एकमुखाः सहस्रं ददाति) वह एक स्थानपर मुख करता हुआ हजारोंका दान करता है ॥ ९ ॥

(बृहस्पतिः सविता) बृहस्पति और सविता (ते वयः दधौ) तेरी आयुका धारण करते हैं। (ते आत्मा) तेरा आत्मा (त्वष्टुः वायोः परि आभृतः) त्वष्टा और वायुसे परिपूर्ण है। (मनसा त्वा अन्तरिक्षे जुहोमि) मनसे तुझे अन्तरिक्षमें अर्पण करता हूं, (उभे द्यावापृथिवी ते बर्हिः स्ताम्) दोनों द्युलोक और भूलोक तेरे आसन हों ॥ १० ॥

(देवेषु इन्द्रः इव) देवोंमें जैसा इन्द्र वैसा (यः गोषु विवावदत् एति) गौओंमें शब्द करता हुआ चलता है। (तस्य ऋषभस्य अंगानि) उस बैलके अंगोंको (भद्रया ब्रह्मा संस्तौतु) प्रशंसा शुभवाणीसे ब्रह्मा करे ॥ ११ ॥

(पार्श्वे अनुमत्याः आस्तां) दोनों पासे अनुमतिके हैं, (अनूवृजौ भगस्य आस्तां) पसलियोंके दोनों भाग भगके हैं, (मित्रः अब्रवीत्) मित्रने कहा कि (अष्ठीवन्तौ केवलौ एतौ मम इति) दो घुटने केवल मेरे हैं ॥ १२ ॥

(भसद् आदित्यानां आसीत्) पृष्ठवंशका अन्तिम भाग आदित्योंका है, (श्रोणी बृहस्पतेः आस्तां) कूल्हे बृहस्पतिके हैं, (पुच्छं वातस्य देवस्य) पुच्छ वायु देवका है, (तेन ओषधीः धूनोति) उससे औषधियोंको हिलाता है ॥ १३ ॥

(गुदाः सिनीवाल्याः आसन्) गुदाभाग सिनीवालीके हैं, (त्वचं सूर्यायाः अब्रुवन्) त्वचा सूर्यप्रभाकी है, ऐसा कहते हैं। (पदः उत्थातुः अब्रुवन्) पैर उत्थाताके हैं ऐसा कहा है, (यत् ऋषभं अकल्पयन्) इस प्रकार बैलकी कल्पना विद्वानोंने की है ॥ १४ ॥

भावार्थ— यह दूध देनेवाला बैल उत्तम प्रजा उत्पन्न करता है, उसको सारवान् इन्द्र कहते हैं। जो बैलका समर्पण करता है उसको हजारों दानोंका श्रेय होता है ॥ ९ ॥

बृहस्पति और सवितासे उसकी आयुका धारण किया है। त्वष्टा और वायुका सत्त्व इसमें है। इसका मनसे अन्तरिक्षमें समर्पण करनेसे भूमिपर और आकाशके नीचे यह रहता है ॥ १० ॥

जैसा देवोंमें इन्द्र वैसा यह बैल गौवोंमें है। ज्ञानी ही इसके अवयवोंके महत्त्व का कथन कर सकता है ॥ ११ ॥

इसके अवयवोंमें अनुमति, भग, मित्र, आदित्य, बृहस्पति, वायु आदि देवताओंका अधिष्ठान है ॥१२-१३॥

क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः ।
देवाः संगत्य यत् सर्वे ऋषभं व्यकल्पयन् ॥ १५ ॥
ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान् ।
ऊबंध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥ १६ ॥
शृङ्गाभ्यां रक्षः ऋषति त्वचातिं हन्ति चक्षुषा ।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥ १७ ॥
शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः ।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ १८ ॥
ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः ।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते ॥ १९ ॥

अर्थ- [क्रोडः जामिशंसस्य आसीत्] गोद जामिशंसकी थी, [कलशः सोमस्य धृतः] कलश सोमका धारण किया है, इस प्रकार [सर्वे देवाः संगत्य] सब देव मिलकर [यत् ऋषभं व्यकल्पयन्] बैलकी कल्पना करते रहे ॥ १५ ॥

[कुष्ठिकाः सरमायै ते अदधुः] कुष्ठिकोंको सरमाके लिए वे धारण करते रहे। और [शफान् कूर्मेभ्यः] खुरोंको कछुओंके लिए धारण करते रहें। [अस्य ऊबध्यं] इसका अपक्व अन्न [श्ववर्तिभ्यः कीटेभ्यः अधारयन्] कुत्तेके साथ रहनेवाले कीडोंके लिए रख दिया ॥ १६ ॥

[यः अघ्न्यः गवां पतिः] जो गौवोंका हननके अयोग्य पति अर्थात् बैल है, वह [कर्णाभ्यां भद्रं शृणोति] कानों से कल्याणकी बातें सुनता है, [शृंगाभ्यां रक्षः ऋषति] सींगोंसे राक्षसोंको हटा देता है और [चक्षुषा अवतिं हन्ति] आंखसे अकालको नष्ट करता है ॥ १७ ॥

[यः ब्राह्मणे ऋषभं आजुहोति] जो ब्राह्मणोंको बैल समर्पण करता है (तं विश्वे देवाः जिन्वन्ति) उसको सब देव तृप्त करते हैं। (सः शतयाजं यजते) वह सैकडों यागकों द्वारा यज्ञ करता है और (एनं अग्नयः न दुन्वन्ति) इसको अग्नि कष्ट नहीं देते ॥ १८ ॥

(ब्राह्मणेभ्यः ऋषभं दत्त्वा) ब्राह्मणोंको बैल देकर जो अपना (मनः वरीयः कृणुते) मन श्रेष्ठ बनाता है। (सः स्वे गोष्ठे) वह अपनी गोशालामें (अघ्न्यानां पुष्टिं अव पश्यते) गौवोंकी पुष्टि देखता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—क्षिनीवाली,सूर्यप्रभा,उत्थाता,जामिशंस,सोम इन देवताओंके लिए क्रमशः गुदा, त्वचा, पैर,गोद, कलश ये इसके अवयव माने गये हैं। इस तरह सब देवोंने इस बैलके विषयमें कल्पना की है ॥ १४-१५ ॥

सरमा, कूर्म, श्ववर्ति, क्रिमी आदिके लिए इसके कुष्ठिका, खुर, और अपचित अन्नभाग रखे हैं ॥ १६ ॥

बैल गौका पति है। वह कानोंसे उत्तम शब्द सुनता है, सींगोंसे शत्रुओंको हटाता है और आंखसे अकालको दूर करता है ॥ १७ ॥

जो ब्राह्मणको बैल दान देता है, उसकी सब देव तृप्ति करते हैं। वह सैकडों प्रकारके यागकों द्वारा यज्ञ करता हुआ अग्निके भयसे दूर रहता है ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मणोंको बैल दान करके अपना मन श्रेष्ठ बनाता है, वह अपनी गोशालामें बहुत गौवें पुष्ट हुई हैं, इसका अनुभव करता है ॥ १९ ॥

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम् ।
तत् सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥ २० ॥
अयं पिपान इन्द्र इद् रयिं दधातु चेतनीम् ।
अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशे दुहां विपश्चितं परो दिवः ॥ २१ ॥
पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन् ।
आयुरस्मभ्यं दधत् प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम् ॥ २२ ॥
उपेहोपपर्चनास्मिन् गोष्ठ उप पृञ्च नः । उप ऋषभस्य यद् रेत उपेन्द्र तव वीर्यम् २३
एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु ।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ २४॥ (२४)

॥ इति द्वितीयोनुवाकः ॥

अर्थ- (गावः सन्तु) गौवें हों, (प्रजाः सन्तु) प्रजाएं हों, (अथो तनूबलं अस्तु) और शारीरिक बल हो । (तत् सर्वं) यह सब (ऋषभदायिने) बैल देनेवालेके लिये (देवाः अनुमन्यन्ता) देव अपनी अनुमतिके साथ देवें ॥ २० ॥

(अयं पिपानः इन्द्रः इत्) यह पुष्ट इन्द्र (चेतनीं रयिं दधातु) चेतना देनेवाले धनका धारण करे । तथा (अयं) यह इन्द्र (सुदुघां) उत्तम दोहने योग्य (नित्यवत्सां) बछडोंके साथ उपस्थित, (वशं दुहां) वशमें रहकर दुहने योग्य, (विपश्चितं धेनुं) ज्ञानयुक्त धेनुको (परः दिवः) श्रेष्ठ द्युलोकके परेसे धारण करे ॥ २१ ॥

(पिशंगरूपः) लाल रंगवाला, (नभसः) आकाशसे (ऐन्द्रः शुष्मः) इन्द्रके संबंधी बल धारण करनेवाला (विश्वरूपः वयोधाः नः आगन्) समस्त रूपोंसे युक्त अन्नका धारण करनेवाला हमारे पास आगया है । वह (आयुः प्रजां च रायः च) आयु, प्रजा और धन (अस्मभ्यं दधत्) हमारे लिए धारण करता हुआ (पोषैः नः अभिसचन्तां) पुष्टियोंसे हमें प्राप्त होवे ॥ २२ ॥

(इह अस्मिन् गोष्ठे) यहां इस गोशालामें (उप उप पर्चन) समीप रह । और (नः उपपृञ्च) हमें प्राप्त हो । (ऋषभस्य यत् रेतः) वृषभका जो वीर्य है, हे इन्द्र ! (तव वीर्यं उप) वह तेरा वीर्य हमारे पास आजावे ॥ २३ ॥

(एतं युवानं वः प्रतिदध्मः) इस युवाको हम आपके लिए समर्पित करते हैं, (अत्र तेन क्रीडन्तीः चरत) यहां उसके साथ खेलती हुई विचरो और (वशान् अनु) इच्छित स्थानोंके प्रति जाओ । हे (सुभागाः) भाग्ययुक्त गौवो ! (जनुषा मा हासिष्ट) जन्मके साथ हमारा त्याग न करो, (च पोषैः रायः) पुष्टियोंके साथ रहनेवाले धन (नः अभिसचध्वं) हमें दो ॥ २४ ॥

भावार्थ–बैलका दान करनेवालेको देवोंकी अनुमतिसे गौवें मिलतीं, प्रजा होती और शरीरका बल भी प्राप्त होता है ॥२०॥

यह प्रभु चैतन्ययुक्त गोरूपी धन हमें देवे । यह द्युलोकके परेसे ऐसी गौ लावे कि जो उत्तम दूध देनेवाली, नित्य बछडेको साथ रखनेवाली, विनाकष्ट दूध देनेवाली और स्वामीको पहचाननेवाली हो ॥ २१ ॥

आकाशके पारसे बैल ऐसा आया है कि जो लाल रंगवाला, बलवान, अनेक रंगोंसे युक्त, अन्नको देनेवाला है । यह हमें आयु, प्रजा और धन हमारे लिए देवे और हमें पुष्टि देवे ॥ २२ ॥

यह बैल इस गोशालामें रहे, हमारे पास रहे । इस बैलका जो बल है वह इन्द्रकी शक्ति है, यह हमें प्राप्त हो ॥ २३ ॥

इन गौवोंके पास हम इस बैलको धर देते हैं । इसके साथ ये गौवें खेलें, कूदें और विचरें । जहां चाहे वहां घूमें । गौवें हमारा त्याग न करें, हमारे पास रहें । पुष्ट हों और हम सबको पुष्ट करें ॥ २४ ॥

—:—:—

बैलकी महिमा ।

इस सूक्तमें बैलकी महिमा वर्णन की है । उत्तमसे उत्तम बैलका घरमें पालन करनेसे कितने लाभ होते हैं इसका वर्णन इस सूक्तमें पाठक देखें–

साहस्रस्येषः ऋषभः पयस्वान् । (मं० १)

"हजारों तेजोंसे और बलोंसे युक्त यह बैल है, और यह (पयस्वान्) दूध देनेवाला है । " पाठक यहां आश्चर्य करेंगे कि बैल दूध देनेवाला किस प्रकार हो सकता है ? प्रथम और तृतीय मंत्रमें इस बैलको (पयस्वान्) दूधवाला कहा है । अतः इस वर्णनमें कुछ हेतु है। जैसा बैल होता है वैसा उसकी गौरूप संततिमें दूध न्यूनाधिक होता है । अर्थात् गौमें दूध उत्पन्न करनेकी शक्ति बैलपर निर्भर है । कई जातिके बैल कम दूध देनेवाली संतान पैदा करते हैं और कई जातिके बैल विशेष दूध देनेवाली संतान उत्पन्न करते हैं । अतः यदि अधिक दूध देनेवाली गौवें उत्पन्न करानेकी इच्छा हो, तो अधिक दूध देनेवाली गौओंके साथ उस जातिका बैल रखना चाहिये कि जो अधिक दूध देनेवाली जातिका हो। ऐसी गौवें और ऐसे बैल एक स्थानपर रखने चाहिए। अर्थात् कम दूध देनेवाली जातिके बैल अधिक दूध देनेवाली गौके साथ कदापि नहीं रखना चाहिये क्योंकि इससे उत्पन्न होनेवाली गौका दूध घट जायगा । अतः २४ वें मंत्रमें कहा है–

एतं वो युवानं प्रतिदध्मः तेन अत्र क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु । (मं० २४)

" इस युवा बैलको गौवोंके साथ रखते हैं, इसके साथ ये हो गौवें खेलें और इष्ट प्रदेशमें विचरें । " अर्थात् यह फलानी जातिका बैल है और ये फलानी जातिकी गौवें हैं, इन दोनोंका संबंध हम करना चाहते हैं । इस संबंधसे विशेष प्रकारकी संतान पैदा होगी । इस प्रकार गौओंमें भी किसी गौका किसी बैलके साथ संबंध होना इष्ट नहीं है । विशेष जातिकी गौके साथ विशेष जातिके बैलका ही संबंध होना अभीष्ट है । गौवोंमें जातिका संकर कदापि होने देना युक्त नहीं है। यदि भिन्न जातिमें संबन्ध होना है तो उच्च जातिवाले नरके साथ संबंध हो और नीच जातिवाले नर के साथ संबंध न हो । यदि दूध बढानेकी इच्छा हो तो अधिक दूध देनेवाली जातिके बैलके साथ गौका संबंध हो, यदि वाहक शक्तिवाले बैल उत्पन्न करनेकी इच्छा हो तो उत्तम वाहक शक्तिवाले बैलके साथ संबंध हो । गौओंके अंदरकी उपजातियोंकी भी रक्षा करना योग्य है और संतान विशेष जातिकी ही उत्पन्न करनेका यत्न होना चाहिये । जातिसंकर होनेसे गुणोंकी न्यूनता होती है और जातिकी शुद्धता रहनेसे गुणोंका संवर्धन होजाता है । इस सूक्तमें इस तरह गौओंकी जातियोंकी रक्षा करके अथवा अनुलोम संबंधसे उच्च नरके साथ संबंध रखके गऊओंका संवर्धन करनेका उपदेश है और यह उपदेश देनेके लिए बैलके रेतमें दूध बढानेका गुण है। यह बात कही है । इसका विचार पाठक करें । अस्तु यह बैल–

वक्षणासु विश्वा रूपाणि बिभ्रत् । (मं० १)

" नदीके किनारोंपर यह बैल अपने विविध रूपोंको धारण करता है । " अर्थात् यह नदीके किनारेपर रहकर घास आदि खाकर यथेष्ट पुष्ट होकर विचरता है और गौवोंमें विविध प्रकारके अपने रूपोंका आधान करता है । यदि यह खा पी कर पुष्ट न बने, तो उत्तम संतान निर्माण करनेमें असमर्थ होगा । इसलिए सांडको बडा पुष्ट बनाना चाहिये । इस प्रकारका–

क्षियः तन्तुं आतान् (मं० १)

" अपने प्रजातन्तु को फैलाता है । " अर्थात् गौवोंमें गर्भाधान करके उत्तम संतान उत्पन्न करता है । यही रीति है कि जिससे गौवें और बैल उत्तम निर्माण हो सकते हैं । ऐसे उत्तम जातिके बैल–

दात्रे भद्रं शिक्षन् । (मं० १)

" दाता के लिए कल्याण देते हैं । " जो मनुष्य ऐसे उत्तम बैल आचार्योंको दान देता है उसका कल्याण होता है । अर्थात् आचार्य, ब्राह्मण आदिके पास बहुत शिष्य होते हैं, अतः उनके आश्रमोंमें अधिक दूध देनेवाली गौवें रहीं, तो बहुतसे ब्रह्मचारी दूध पीकर पुष्ट रह सकते हैं। अतः ऐसे उत्तम बैल और उत्तम गौवें ऐसे आचार्योंको देना कल्याणकर है। इस सूक्तमें इस प्रकारके दान के लिए प्रेरणा इस तरह की है–

सहस्रं स एकमुक्षा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति । (मं० ९)
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ (मं० १८)
ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्वा वरीयः कृणुते मनः ॥ (मं० १९)
तत्सर्वमनुमन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥ (मं० २०)

जो (ब्राह्मणे) ब्राह्मण को बैल समर्पण करता है वह एक रूपमें हजारों दान करता है। उसको सब देव संतुष्ट करते हैं जो (ब्राह्मणे) ब्राह्मणके घरमें बैलका समर्पण करता है। ब्राह्मणोंको बैल दान देकर मन श्रेष्ठ बनाता है। जो बैलका दान करता है उसके लिए सब देव अनुकूल होते हैं ॥"

विद्वान, ज्ञानी, सदाचारी आचार्यजीको उत्तम बैल दान करनेकी प्रेरणा इस प्रकार इस सूक्तमें की है। इसका तात्पर्य पूर्व स्थानमें जैसा बताया है वैसा ही समझना चाहिये। यही विषय महाभारतमें निम्नलिखित रीतिसे स्पष्ट किया है—

दत्वा धेनुं सुव्रतां कांस्यदोहां कल्याणवत्सामपलायिनीं च ।
यावन्ति रोमाणि भवन्ति तस्यास्तावद्वर्षाण्यश्नुते स्वर्गलोकम् ॥ ३३ ॥
तथाऽनड्वाहं ब्राह्मणेभ्यः प्रदाय दान्तं धुर्यं बलवन्तं युवानम् ।
कुलानुशील्यं वीर्यवन्तं बृहन्तं भुङ्क्ते लोकान्सम्मितान्धेनुदस्य ॥ ३४ ॥
गोषु क्षान्तं गोषरण्यं कृतज्ञं वृत्तिग्लानं तादृशं पात्रमाहुः ।
वृद्धे ग्लाने संभ्रमे वा महार्हे कृच्यर्थं वा होम्यहेतोः प्रसूताम् ॥ ३५ ॥
गुर्वर्थं वा बालपुष्ट्यभिषङ्गां गां वै दातुं देशकालोऽविशिष्टः ।

म० भा० अनुशा० अ० ७१

" दान करनेके लिए गौ ऐसी हो कि जो उत्तम स्वभाववाली, बडे कांस्य के बर्तनमें जिसका दोहन होता हो, जिसके बछडे उत्तम होते हैं, जो न भागती हो। इसी प्रकार ब्राह्मणोंको दान करनेके लिए योग्य बैल बोझा ढोनेवाला, उत्तम बलवान, युवा, वीर्यवान्, बडे शरीरवाला हो। ऐसे बैलका दान करनेवालेको स्वर्गलाभ होता है। गौ ऐसे विद्वान्को देनी चाहिये कि जो गौका भक्त हो, गोपालक हो, गौके विषयमें कृतज्ञ हो, वृत्तिहीन हो, । गुरुजीको शिष्य उत्तम गौ दान देवे। " इस रीतिसे महाभारतमें गौ दान और वृषभ दानका विषय कहा है। हरएक ब्राह्मण गौका दान लेनेका अधिकारी नहीं है। इस विषयमें महाभारत और अथर्ववेदके सूक्तोंमें बहुत नियम हैं, उनका विचार पाठक अवश्य करें—

असद्वृत्ताय पापाय लुब्धायानृतवादिने ।
हव्यकव्यव्यपेताय न देया गौः कथंचन ॥ १५ ॥
भिक्षवे बहुपुत्राय श्रोत्रियायाहिताग्नये ।
दत्वा दशगवां दाता लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥ १६ ॥

म० भा० अनुशा० अ० ६९

" दुराचारी, पापी, लोभी, असत्यभाषणी, हव्यकव्य न करनेवालेको कभी गौ दान देनी नहीं चाहिये । भिक्षापर जीविका निर्वाह करनेवाला, बहुत पुत्रवाला, वेदज्ञानी, अग्निहोत्री को गोदान करनेसे स्वर्गप्राप्त होता है। " इस प्रकार महाभारतमें वर्णन है। यह देखनेसे पता लगता है कि विद्वान् सदाचारी आचार्यको ही गौ दान करना योग्य है। केवल ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होनेसे गौ दान लेनेका अधिकारी नहीं हो सकता। तथा अथर्ववेदमें अन्यत्र जो कहा है वह भी यहां देखिये—

यो ददाति शतौदनाम् । अथर्व १०।९।५,६, १०
ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्वा सर्वाँल्लोकान्समश्नुते ॥ अ० १०।१०।३३
आपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्राह्मणा इस्तेषु प्र पृथक्सादयामि ॥

अ० १०।९।२७

" शतौदना गौका दान करता है । ब्राह्मणोंको वशा गोदान करनेसे सब श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति होती है। ब्राह्मणोंके हाथोंपर दान का उदक पृथक् पृथक् छोडता हूं अर्थात् दान करता हूं । " इन मंत्रोंसे स्पष्ट बोध होता है कि ब्राह्मणोंको गोदान करना चाहिये। यहां विचार करना चाहिए कि कौनसे ब्राह्मणको इस प्रकार गौका दान करना चाहिये । निम्नलिखित मंत्रोंसे इसका उत्तर मिलता है–

शिरो यज्ञस्य यो विद्यात्स वशां प्रतिगृह्णीयात् ।
य एवं विद्यात्स वशां प्रतिगृह्णीयात् ॥
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गताःस्विदिवं दिवः ॥
सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥

अथर्व० । १०।१०।१२;२७;३२;२८

" जो यज्ञके सिरको अर्थात् मुख्य भागको ठीक प्रकार जानता है वह गौका दान लेवे । जो इस ज्ञानसे युक्त है वह गौका दान लेवे । जो इस प्रकारके ज्ञानीको गौका दान करते हैं वे स्वर्गको प्राप्त करते हैं। अन्योंको अर्थात् जो इस ज्ञानसे युक्त नहीं हैं उनको गौका दान नहीं लेना चाहिए । "

इन मंत्रोंमें विशेष ज्ञानी आत्मनिष्ठ ब्राह्मणोंको गौका दान करना योग्य है ऐसा स्पष्ट कहा है। इसलिए ब्राह्मणको गोदान करनेमें कोई पक्षपात नहीं है। जो ब्राह्मण राष्ट्रके नवयुवकोंको ज्ञान देता है और जो धर्म की मूर्ति है, उसको उत्तम गौओंका दान करना योग्य है । ब्राह्मण जातिमें उत्पन्न पापी मनुष्योंको कदापि गौओंका दान करना योग्य नहीं है । गौके और बैलके दानके विषयमें यही समान उपदेश है ।

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी । [मं० २]

" बैलको उपमा केवल मेघकी है, यह सबका प्रभु है जो देवी पृथ्वीके समान वह सबका उपकारक है" जिस प्रकार जलदान करनेसे मेघ सबको जीवन देता है और अन्न देनेके कारण पुष्टिका हेतु होता है, उस प्रकार बैल भी अन्न उत्पन्न करता है, कृषीका साधक है और गौके द्वारा अमृत रूपी जीवनरस देता है । इसलिए मेघ और बैल समानतया उपकारक हैं । अतः बैलको वेदमें मेघोंकी उपमा दी है । यह बैल हमें

साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु । [मं० २]

" हजारों प्रकारकी पुष्टिमें रखे । " अर्थात् हमारा उत्तम रीतिसे सहायक बने । इसके आगे मंत्र ३ और ४ में बैलके गुणोंका उत्तम वर्णन है वह अति स्पष्ट है । पंचम मंत्रमें [सोमस्य भक्षः] सोमका अन्न बनानेका वर्णन है । सोमरसके साथ दूध मिलानेसे उत्तम पेय होता है, ऐसा अन्यत्र वेदमें कई स्थानोंमें कहा है । उसी सोमके अन्नका यहाँ उल्लेख है। [ओषधीनां रसः] औषधियोंके रसके साथ गायका दूध पीनेकी यह वैदिक रीति यहां देखने योग्य है । बैलके कारण गौमें दूध उत्पन्न होता है, इसलिए इस पेयका हेतु बैल है ऐसा यहां कहा है, वह बात युक्तियुक्त है । यह बैल–

सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्ति । [मं० ६]

" सोमरससे भरे हुए कलशका धारण करता है । " यह अमृत रसका कलश गौका स्तन या ऊध है जिसमें विपुल दूध रहता है । गायका दूध भी सोमशक्तिसे युक्त होता है, यह सोमशक्ति सोमादि शुद्ध वनस्पतियोंके भक्षणसे गौमें उत्पन्न होती है । इस रीतिसे देखा जाय तो गौ सोमरसका कलश धारण करती है और यह बैल गौके अन्दर इस सोमरसका धारण करता है, यह बात स्पष्ट होजाती है । इस प्रकार यह सोमरसका आधार बैल—

इन्द्रस्य रूपं वसानः [मं ७]

" इन्द्रके रूपको धारण करनेवाला है । " यह बैल इन्द्रकी शक्तिको अपने अन्दर धारण करता है, इसीलिए इसको–

आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः । [मं० ७]

" घीका धारक, वीर्यका स्थान और हजारों प्रकारकी पुष्टियां देनेवाला कहते हैं । " विचार करनेपर पाठकोंको इस बातका अनुभव अवश्य मिलेगा । यदि यह बैल गौमें दूध अधिक उत्पन्न करनेका हेतु है, तो यही घी और वीर्यका वर्धक भी निश्चयसे है, क्योंकि जो दूधका बढानेवाला है वही वीर्यका बढानेवाला होता है । गौके दूधको वैद्यक ग्रंथोंमें (सकृत् शुक्रकरं स्वादु) शीघ्र वीर्य बढानेवाला कहा है । हजारों अन्य उपायोंसे जो शरीरका पोषण होता है वह इस अकेले गौके दूधसे हो सकता है । यह सामर्थ्य गायके दूधमें है । गौका और बैलका इतना महत्त्व होनेसे इसका काव्यमय वर्णन इस सूक्तमें आगे किया है । इसके हर-एक अवयवमें देवताका अंश है यह बात मं० ८ से मं० १६ तक कही है । प्रत्येक अवयवमें किस देवताका अंश है यह वर्णन लेखनेसे गौका और बैलका शरीर देवतामय है, यह बात स्पष्ट हो जाती है । मानो गौका दूध देवताओंका सत्त्व है । यहां पाठक विचार करें कि वेदने गौके दूधका जो इतना माहात्म्य वर्णन किया है वह इसलिये कि वैदिकधर्मी लोग गायका ही दूध पियें और गायका ही घी आदि सेवन करें । भैंस का दूध कभी न पियें ।

१७ वें मंत्रमें कहा है कि यह बैल सींगोंसे राक्षसोंका नाश करता है और आंखसे अकालका नाश करता है । यद्यपि यह आलंकारिक वर्णन है, तथापि यह सत्य है । बैलके मानव जातिपर इतने अनंत उपकार हैं कि उनका यथार्थ वर्णन करना असंभव है । राक्षस नाशक बैलका वर्णन शतपथ ब्राह्मणमें इस प्रकार आता है—

मनोर्ह वा ऋषभ आस । तस्मिन्नसुरघ्नी सपत्नघ्नी वाक्प्रविष्टास ।
तस्य ह ऋषभादवथादसुररक्षसानि मृघ्यमानानि यन्ति । ते हासुराः
समूदिरे पापं बत नोऽयमृषभः सचते कथं न्विमं दभ्नुयामेति० ॥ श० ब्रा० १

" मनुका एक बैल था, उसमें असुरों और सपत्नोंकी नाशक वाणी प्रविष्ट हुई थी, अतः उसके श्वाससे असुर और राक्षस मर्दित होते हुए नष्ट हो जाते थे । वे असुर मिलकर विचार करने लगे कि, ' यह बैल बडा पापी है, इसका कैसा नाश करें " इत्यादि । यह सब वर्णन आलंकारिक है । इससे यहां इतना ही लेना है कि बैलमें असुरनाशक शक्ति है ।

१८ वें मंत्रमें ब्राह्मणको बैल दान करनेका महत्त्व पुनः कहा है । यह एक दान सैकडों दानोंके समान है यह कथन भी विशेष मननीय है । आगेके तीन मंत्रोंमें बैलके दानका महत्त्व वर्णन किया है, इस विषयमें इससे पूर्व बहुत लिखा गया है । इसी प्रकार अन्तिम तीन मंत्रोंमें बैलकी ऐन्द्री शक्तिका वर्णन है, ऐसे बैल गौओंकेसाथ रखनेका उपदेश अन्तिम मंत्रमें किया है । ये सब विचार गौ और बैल का महत्त्व वर्णन कर रहे हैं । पाठक इन सब उपदेशोंका महत्त्व जानकर, और बैलका अपने घरमें स्वागत करें और उनसे विशेष लाभ उठावें ।

—:o:—

पञ्चौदन अज ।

[५]

(ऋषिः- भृगुः । देवता-पञ्चौदनोऽजः)

(१)

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥ १ ॥
इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन् यज्ञे यजमानाय सूरिम् ।
ये नो द्विषन्त्यनु तान् रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः ॥ २ ॥
प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चाचारं शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन् ।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम् ॥ ३ ॥

अर्थ-- (एतं आनय) इसको यहां ला और ऐसे (आरभस्व) कर्मोंका प्रारंभ कर कि जिससे यह (प्रजानन्) मार्गको जानता हुआ (सुकृतां लोकं अपि गच्छतु) सत्कर्म करनेवालोंके स्थानको प्राप्त होवे । मार्गमें (महान्ति तमांसि बहुधा तीर्त्वा) बडे अंधकारोंको बहुत प्रकारसे तरके यह (अजः तृतीयं नाकं आक्रमतां) अजन्मा तीसरे स्वर्गधामको प्राप्त होवे ॥ १ ॥

(अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें स्थित (इन्द्राय यजमानाय भागं सूरिं त्वा) इन्द्र और यजमानके लिए भागभूत बने तुझ ज्ञानीको (परि नयामि) सब ओर लेजाता हूं। (ये नः द्विषन्ति) जो हमारा द्वेष करते हैं (तान् अनुरभस्व) उनको नाश करना आरंभ कर । और (यजमानस्य वीराः अनागसः) यजमानके पुत्र अथवा वीर पापरहित हों ॥ २ ॥

(यत् दुःचरितं चचार) जो दुराचार इसने किया होगा, वह सब (पदः प्र अव नेनिग्धि) इसके पांवसे धो डाल । इसके पश्चात् यह (शुद्धैः शफैः प्रजानन् आक्रमतां) शुद्ध पांवोंसे मार्गको जानता हुआ चले । (विपश्यन् तमांसि बहुधा तीर्त्वा) देखता हुआ अंधकारोंको बहुत प्रकार से तरके, (अजः) यह अजन्मा (तृतीयं नाकं आक्रमतां) तृतीय स्वर्ग धामको प्राप्त करे ॥ ३ ॥

भावार्थ-इसको यहां ले आओ, शुभ कर्मोंका प्रारंभ करो, अपनी उन्नतिके मार्गको जान लो, और सत्कर्म करनेवाले जहां जाते हैं उस स्थानको प्राप्त करो । मार्गमें बडे अन्धकारके स्थान लगेंगे, उनको लांघना चाहिये, इस प्रकार यह अजन्मा आत्मा परम उच्च अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

इस यज्ञमें तुझे सब ओर ले जाता हूं । तू ज्ञानी बनकर प्रभुके लिए आत्मसमर्पण कर और यज्ञकर्ताके साथ समभागी बन । जो द्वेष करेंगे उनको दूर कर । इस तरह यज्ञकर्ताके कार्यभाग निष्पाप बनें और कार्य करें ॥ २ ॥

पूर्व समयमें जो दुराचार हुआ होगा; उसको धो डाल, आगे शुद्ध पांवोंसे अपना मार्ग आक्रमण कर । चारों ओर मार्गको देख, सब अंधकारोंको लांघ कर, जन्ममरणको दूर करके परम उच्च अवस्थाको प्राप्त हो ॥ ३ ॥

अनु॑ च्छ्य श्या॒मेन॒ त्वच॑मे॒तां वि॑शस्तर्यथाप॒र्व१॒॑सिना॒ माभि मं॑स्थाः ।
माभि द्रु॑हः परु॒शः क॑ल्पयैनं तृ॒तीये॒ नाके॒ अधि॒ वि श्र॑यैनम् ॥ ४ ॥
ऋ॒चा कु॒म्भीमध्य॒ग्नौ श्र॑या॒म्या सि॑ञ्चोद॒कमव॑ धेह्येनम् ।
प॒र्याध॑त्ता॒ग्निना॑ शमितारः शृ॒तो ग॑च्छतु सु॒कृतां॒ यत्र॑ लो॒कः ॥ ५ ॥
उत्क्रा॒मातः परि॒ चेदत॑प्तस्त॒प्ताच्च॒रोरधि॒ नाकं॑ तृ॒तीय॑म् ।
अ॒ग्नेर॒ग्निरधि॒ सं ब॑भूविथ॒ ज्योति॑ष्मन्तम॒भि लो॒कं ज॑यै॒तम् ॥ ६ ॥
अ॒जो अ॒ग्निर॒जमु॒ ज्योति॑राहुर॒जं जीव॑ता ब्र॒ह्मणे॒ देय॑माहुः ।
अ॒जस्तमां॒स्यप॑ हन्ति दू॒रम॒स्मिंल्लो॒के श्र॒द्दधा॑नेन द॒त्तः ॥ ७ ॥

अर्थ- हे (विशस्तः) विशेष शासक! तू (एतां त्वचं यथा परु) इस त्वचा को जोडोंके अनुसार (श्यामेन असिना अनुच्छ्य) काले शस्त्रसे काट डाल । (मा अभि मंस्थाः) मत् अभिमान कर, (मा अभि द्रुहः) मत द्रोह कर । (परुशः एनं कल्पय) जोडोंके अनुसार इसको समर्थ बना । और (तृतीये नाके एनं अधि विश्रय) तीसरे स्वर्गधाममें इसको स्थापित कर ॥ ४ ॥

(ऋचा कुंभीं अग्नौ अधिश्रयामि) मंत्रसे इस पात्रको मैं अग्निपर रखता हूं । उसमें तू (उदकं आ सिञ्च) जल डाल और (एनं अव धेहि) इसको वहीं स्थापित कर । हे (शमितारः) शान्त करनेवालो ! तुम (अग्निना पर्याधत्त) अग्नि द्वारा चारों ओरसे इसकी धारणा करो । यह (शृतः गच्छतु) परिपक्व होकर वहां जावे कि (यत्र सुकृतां लोकः) जहां सत्कर्म करनेवालोंका स्थान है ॥ ५ ॥

(अतः तप्तात् चरोः) इस तपे हुए बर्तनसे (अतप्तः) न संतप्त होता हुआ तू (परि उत् क्राम) ऊपर चढ और (तृतीयं नाकं अधि) तीसरे स्वर्गधामको प्राप्त हो । (अग्नेः अधि) अग्निके ऊपर (अग्निः सं बभूविथ) अग्नि प्रकट होता है, अतः (एतं ज्योतिष्मन्तं लोकं अभिजय) इस तेजस्वी लोक का जय कर ॥ ६ ॥

(अजः अग्निः) अजन्मा अग्नि है (अजं उ ज्योतिः आहुः) न जन्मनेवाला तेज है ऐसा कहते हैं । [जीवता अजं ब्रह्मणे देयं आहुः] जीते हुए मनुष्यके द्वारा अपना अजन्मा आत्मा परब्रह्मके लिए समर्पण करने योग्य है ऐसा कहते हैं । [अस्मिन् लोके श्रद्दधानेन दत्तः] इस लोकमें श्रद्धा धारण करनेवालेने समर्पित किया हुआ [अजः तमांसि दूरं अप हन्ति] अजन्मा आत्मा अन्धकारोंको दूर भगाता है ॥ ७ ॥

भावार्थ- योग्य शासक किंवा छेदक जोडोंके अनुसार तीक्ष्ण शस्त्रसे शस्त्रप्रयोग करे और रोगादि दोषोंको दूर करे। अभिमान न धरे और किसीका द्रोह भी न करे । प्रत्येक अवयवमें सामर्थ्य उत्पन्न करे और परम उच्च स्थानको प्राप्त करे ॥४॥

पकानेका बर्तन अग्निपर रखा जाय, उसमें पानी डाला जाय, चारों ओरसे अच्छी प्रकार सेक दिया जावे, पकनेके पश्चात् जहां सुकृत करनेवाले बैठे हों वहां लेजाकर उनको दिया जावे ॥ ५ ॥

तपे बर्तनसे ऐसा बाहर निकलो कि जैसा न तपा हुआ होता है । और परम उच्च अवस्थाको प्राप्त हो । अग्निपर अग्नि अर्थात् आत्मापर परमात्मा विराजमान है । उस तेजोमय लोकको अपने शुभ कर्मसे प्राप्त करो ॥ ६ ॥

अजन्मा आत्मा भी अग्नि कहलाता है, अजन्मा परमात्मा भी तेजोमय है ऐसा ज्ञानी कहते हैं । जीवित देहधारी लोगोंके अन्दर जो अजन्मा जीवात्मा है वह परमात्मा अथवा परब्रह्मके लिये समर्पित होने योग्य है ऐसा ज्ञानी कहते हैं । इस लोकमें श्रद्धासे यदि इसका समर्पण किया जाय, तो वह अजन्मा आत्मा सब अन्धकारोंको दूर कर सकता है ॥ ७ ॥

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि ।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ८ ॥
अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽतिं दुर्गाण्येषः ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति ॥ ९ ॥
अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति ।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघास्येका ॥ १० ॥ (११)
एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति ।
अजस्तमांस्यपं हन्ति दूरमस्मिल्लोके श्रद्धानेन दत्तः ॥ ११ ॥
ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन् पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति ।
स व्याघ्रिमभि लोकं जयैतं शिवोऽस्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु ॥ १२ ॥

अर्थ- [त्रीणि ज्योतींषि आक्रंस्यमानः] तीनों तेजोंपर आक्रमण करनेवाला [पञ्चौदनः] पांच भोजनोंवाला अजन्मा (पञ्चधा विक्रमतां) पांच प्रकारसे पराक्रम करे। (ईजानानां सुकृतां मध्यं प्रेहि) यज्ञकर्ता सत्कर्म करनेवालोंके मध्यमें प्राप्त हो। (तृतीये नाके अधिविश्रयस्व) तृतीय स्वर्गधाममें प्राप्त हो ॥ ८ ॥

(अज ! आरोह) हे अजन्मा ! ऊपर चढ (यत्र सुकृतां लोकः) जहां शुभ कर्म करनेवालोंका स्थान है। (चत्तः शरभः न) छिपे हुए व्याघ्र के समान (दुर्गाणि अति एषः) संकटोंके परे जा। पञ्चौदनः ब्रह्मणे दीयमानः) पांचोंका भोजन करनेवाला आत्मा परब्रह्म के लिये समर्पित होता हुआ (सः) वह [दातारं तृप्त्या तर्पयाति] दाताको तृप्तिसे संतुष्ट करता है ॥ ९ ॥

(अजः) अजन्मा आत्मा (ददिवांसं) आत्मसमर्पण करनेवालेको (त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे) तीनों सुखोंको देनेवाले, तीनों प्रकाशोंसे युक्त, तीन पीठों आधारोंसे युक्त (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गधामके स्थानपर (दधाति) धारण करता है। (पञ्चौदनः ब्रह्मणे दीयमानः) पांच भोजनोंवाला जो परब्रह्मको समर्पित होता है ऐसा तू स्वयं (एका विश्वरूपा धेनुः असि) एक विश्वरूप कामधेनुके समान होता है ॥ १० ॥

हे (पितरः) पितरो ! (वः एतत् तृतीयं ज्योतिः) आपके लिये यह तीसरा तेज है जो (पञ्चौदनं अजं ब्रह्मणे ददाति) पञ्च भोजन करनेवाले अजन्मा आत्मा का परब्रह्मके लिये समर्पण करना है। (श्रद्धानेन दत्तः अजः) श्रद्धालु-द्वारा समर्पित हुआ अजन्मा आत्मा (अस्मिन् लोके तमांसि दूरं अपहन्ति) इस लोकमें सब अन्धकारोंको दूर करता है ॥ ११ ॥

(ईजानानां सुकृतां लोकं ईप्सन्) यज्ञकर्ता शुभकर्म करनेवालोंके लोककी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला जो (पञ्चौदनं अजं ब्रह्मणे ददाति) पञ्च भोजन करनेवाले अजन्मा आत्माको परब्रह्मके लिए समर्पित करता है। (सः व्याघ्रिं एतं लोकं जय) वह तू व्याघ्रिवाले इस लोकको जीत ले (यह प्रतिगृहीतः अस्मभ्यं शिवः अस्तु) स्वीकृत हुआ हमारे लिए कल्याणकारी होवे ॥ १२ ॥

भावार्थ-तीन तेजोंको प्राप्त करनेवाला यह आत्मा पांच भोग प्राप्त करनेवाला है। यह पांच कार्यक्षेत्रोंमें पराक्रम करे। यह करनेवाले शुभकर्म करनेवालोंके मध्यमें प्रमुख स्थान प्राप्त करें और परम उच्च अवस्थामें विराजमान होवे ॥ ८ ॥

हे जन्मरहित जीवात्मन्! उच्च मार्गसे चल, और सत्कर्म करनेवाले लोग जहां पहुंचते हैं वहां प्राप्त हो। जिस प्रकार छिपा हुआ व्याघ्र होता है, वैसा तू सुरक्षित होकर सब कष्टोंके परे जा। पांच भोजनोंका भोग लेनेवाला जिवात्मा परमात्माके लिये समर्पित होकर समर्पण करनेवालेको संतुष्ट करता है ॥ ९ ॥

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित् ।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद् देवा ऋतुशः कल्पयन्तु ॥ १३ ॥
अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम् ।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ॥ १४ ॥
एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः ।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ ॥ १५ ॥
अजोऽस्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन् । तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम्॥ १६ ॥

अर्थ-- (अजः अग्नेः शोकात् हि अजनिष्ट) अजन्मा आत्मा अग्निरूप तेजस्वी परमात्माके तेजसे प्रकट हुआ है। विप्रस्य महसः) विशेष ज्ञानी परमात्माकी शक्तिसे [विपश्चित् विप्रः] यह ज्ञानी चेतन प्रकट हुआ है। (इष्टं पूर्तं) इष्ट और पूर्त (अभिपूर्तं वषट्कृतं तत्) संपूर्ण यज्ञके द्वारा समर्पित उसको (देवाः ऋतुशः तत् कल्पयन्तु) देव ऋतुके अनुकूल समर्थ बनाते हैं ॥ १३ ॥

(अमोतं हिरण्ययं वासः) साथ बैठकर बुना हुआ सुवर्णमय वस्त्र और (दक्षिणां अपि दद्यात्) दक्षिणा भी दी जावे। (तथा लोकान् समाप्नोति) इससे वे अनेक वह प्राप्त करता है, (ये दिव्याः ये च पार्थिवाः) जो द्युलोकमें और जो इस पृथ्वीपर हैं ॥ १४ ॥

हे (अज) अजन्मा आत्मन् ! (एताः सोम्याः देवीः) ये सोम संबंधी दिव्य (घृतपृष्ठाः मधुश्चुतः) घी और शहदसे युक्त (धाराः त्वा उपयन्तु) रसधाराएं तेरे पास पहुंचे। और तू (सप्तरश्मौ अधि) सात किरणोंवाले सूर्यके ऊपर (नाकस्य पृष्ठे द्यां) स्वर्गके पृष्टभागपर द्युलोकको (उत पृथिवीं तस्तभान) और पृथ्वीको स्थिर कर ॥ १५ ॥

हे (अज) अजन्मा ! तू (अजः असि) जन्मरहित है, तू (स्वर्गः असि) सुखमय है, [त्वया अंगिरसः लोकं प्रजानन्] तू तैजस् लोकको जाननेवाला है; [तं पुण्यं लोकं प्र ज्ञेषं] उस पुण्यकारक लोकको मैं जानना चाहता हूं ॥ १६ ॥

भावार्थ-अजन्मा आत्मा आत्मसमर्पण करनेवालेको सब प्रकारके उच्च सुखपूर्ण स्थानके लिए योग्य बनाता है। पांच भोजनोंका भोक्ता जीवात्मा परमात्माके लिए समर्पित होनेपर वह एक कामधेनु जैसा बनता है ॥ १० ॥

जो पांच अन्नोंका भोक्ता जीवात्माका परमात्माको समर्पित करना है वह मानो, सब पितरोंके लिये तृतीय ज्योति देनेके समान है। यह समर्पण यदि श्रद्धासे किया तो वह सब अज्ञानान्धकारको दूर करता है ॥ ११ ॥

जिस लोकको यज्ञ करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष प्राप्त करते हैं, वहां पञ्चभोजनी जीवात्माका परमात्माके लिये समर्पण करनेवाला जाता है। अतः तू इस व्यापक लोकको प्राप्त हो। यह लोक प्राप्त होनेपर सबके लिये कल्याणकारी होवे ॥ १२ ॥

परमात्माके तेजसे अजन्मा जीवात्मा प्रकट होता है। महान् ज्ञानी परमात्माकी महिमासे यह चेतन जीवात्मा प्रकट होता है। इसके सब प्रकारके ऋतुओंके अनुकूल सब कर्म सब देव मिलकर पूर्ण करते हैं ॥ १३ ॥

स्वयं बैठकर बुना हुआ वस्त्र सुवर्ण दक्षिणाके साथ दान करना उचित है। इस दानसे भौतिक और अभौतिक लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

ये दिव्य सोमरसकी धाराएं घी और मधुके साथ मिलकर प्राप्त हों इनका सेवन करके तू इस भूमिको सूर्यसे भी परे स्वर्गधाममें स्थापित कर ॥ १५ ॥

तू जन्मरहित और सुखपूर्ण है। तू सब तेजस्वी लोकोंको जानता है। उन पुण्यमय लोकोंको मैं भी जानना चाहता हूं ॥ १६ ॥

येना सहस्रं वहासि येनाग्ने सर्ववेदसम् । तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ १७ ॥
अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः ।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम ॥ १८ ॥
यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य ।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम् ॥ १९ ॥
अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योरः इयमभवद् द्यौः पृष्ठम् ।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ २० ॥ (१२)
सत्यं चर्तं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः ।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ २१ ॥

अर्थ- हे अग्ने ! (येन सहस्रं वहासि) जिससे तू सहस्रोंको ले जाता है और (येन सर्ववेदसं) जिससे सब ज्ञान तू पहुंचाता है, (तेन) उससे (नः इमं यज्ञं) हमारे इस यज्ञको (देवेषुः स्वः गन्तवे) देवोंके अन्दर विद्यमान तेजको प्राप्त करनेके लिये (वह) ले चल ॥ १७ ॥

(पञ्चौदनः पक्वः अजः) पञ्च भोजनवाला परिपक्व हुआ अजन्मा आत्मा (निर्ऋतिं बाधमानः) दुरवस्थाका नाश करता हुआ (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोकमें (दधाति) धारण करता है। (तेन) उससे (सूर्यवतः लोकान् जयेम) सूर्यवाले लोकोंको जीतकर प्राप्त करेंगे ॥ १८ ॥

(यं ब्राह्मणे निदधे) जिसको ब्राह्मणमें रखता हूं, (यं च विक्षु) जिसको प्रजाजनोंमें रखता हूं और (अजस्य ओदनानां याः विप्रुषः) जो अजन्मा आत्माके भोगोंकी पूर्तियां हैं, हे अग्ने ! (नः सर्वं तत्) हमारा वह सब (सुकृतस्य लोके) पुण्य लोकमें, (पथीनां संगमने) मार्गोंके संगममें है, ऐसा (जानीतात्) जानो ॥ १९ ॥

(अजः वै अग्रे इदं व्यक्रमत) अजन्मा आत्मा ही पूर्वकालमें इस संसारमें विक्रम करता रहा । (तस्य उरः इयं अभवत्) उसकी छाती यह भूमि बनी और (द्यौः पृष्ठं) द्युलोक पीठ होगया । (अन्तरिक्षं मध्यं) अन्तरिक्ष मध्यभाग और (दिशः पार्श्वे) दिशाएं पार्श्वभाग तथा [समुद्रौ कुक्षी] समुद्र कोखें बनी ॥ २० ॥

[सत्यं च ऋतं च चक्षुषी] सत्य और ऋत ये उसकी आंखे, [विश्वं सत्यं] सब विश्व अस्तित्व, [श्रद्धा प्राणः] श्रद्धा प्राण, और [विराट् शिरः] विराट् सिर बना । [यत् पञ्चौदनः अजः] जो पञ्च भोजन अजन्मा आत्मा है वह [एषः वै अपरिमितः यज्ञः] यह सचमुच अपरिमित यज्ञ है ॥ २१ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी देव ! जिस शक्तिसे तू सहस्रों लोगोंको उच्च अवस्थातक लेजाता है, सब ज्ञान सबको पहुंचाता है, उस अद्वितीय शक्तिसे इस मेरे यज्ञको तू सब देवोंके पास पहुंचा, जिससे मुझे दिव्य तेजकी प्राप्ति होवे ॥ १७ ॥

पञ्चभोजन करनेवाला अजन्मा आत्मा परिपक्व होता हुआ अवनति दूर करता है और स्वर्गलोक प्राप्त करता है। हम सब उस परिपक्व आत्माके द्वारा प्रकाशवाले लोक प्राप्त कर सकेंगे ॥ १८ ॥

जो ज्ञानियोंके लिए हम समर्पण करते हैं, जो प्रजाजनोंके लिए अर्पण करते हैं, जो अजन्मा आत्माके भोगोंकी पूर्तियां हैं, ये सब पुण्यलोकमें पहुंचानेवाले मार्गोंके सहायक हैं ऐसा जानो ॥ १९ ॥

इस जगत् में जो विक्रम है वह अजन्मा आत्माका ही है। इस आत्माकी छाती भूमी है, पीठ द्युलोक है, अन्तरिक्ष मध्य-भाग है, दिशाएं बगल हैं और कोखें समुद्र हैं ॥ २० ॥

उसकी आंखें सत्य और ऋत हैं, उसका अस्तित्व सब विश्व है, उसका प्राण श्रद्धा और सिर संपूर्ण चमकनेवाले लोक हैं। यह पञ्चभोजनी अजन्मा आत्मा अनन्त यज्ञरूप है ॥ २१ ॥

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमव रुन्धे ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २२ ॥
नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ञो निर्वेयेत् । सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत् ॥ २३ ॥
इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति ।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २४ ॥
पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २५ ॥
पञ्च रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति ।
स्वर्गं लोकमश्नुते योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २६ ॥

अर्थ— [यः पञ्चौदनं] जो पांच भोजनोंवाले [दक्षिणाज्योतिषं अजं ददाति] दक्षिणाके तेजसे प्रकाशित अजन्मा आत्माका समर्पण करता है, वह [अपरिमितं यज्ञं आप्नोति] अपरिमित यज्ञको प्राप्त करता है, तथा [अपरिमितं लोकं अवरुंधे] अपरिमित लोकको अपने आधीन करता है ॥ २२ ॥

[अस्य अस्थीनि न भिंद्यात्] इसकी हड्डियोंको न तोडे, [मज्ञः न निः धयेत्] मज्जाओंको न पीवे, [एनं सर्वं समादाय] इस सबको लेकर [इदं इदं प्रवेशयेत्] इसको इसमें प्रवेश करें ॥ २३ ॥

[इदं इदं एव अस्य रूपं भवति] यह यह ही इसका रूप होता है, [तेन एनं संगमयति] उसके साथ इसको मिलाता है । [अस्मै इषं महः ऊर्जं दुहे] इसके लिए अन्न तेज और बल मिलता है, [यः दक्षिणाज्योतिषं पञ्चौदनं अजं ददाति] जो दक्षिणाके तेजके साथ पञ्चभोजनवाले अजन्मा आत्माको समर्पित करता है ॥ २४ ॥

[यः दक्षिणा०] जो जो दक्षिणाके तेजके साथ पञ्चभोजनवाले अजन्मा आत्माका समर्पण करता है [अस्मै] इसके लिए [पञ्च रुक्मा] पांच मोहरें, [पञ्च नवानि वस्त्रा] पांच नये वस्त्र और [पञ्च कामदुघः धेनवः] पांच इष्ट समय दूध देनेवाली गौवें [भवन्ति] होती हैं ॥ २५ ॥

[यः दक्षिणा०] जो दक्षिणाके तेजके साथ पञ्चभोजनवाले अजन्मा आत्माका समर्पण करता है [अस्मै] इसके लिए [पञ्च रुक्मा] पांच सुवर्ण मुद्राएं [ज्योतिः भवन्ति] प्रकाशमान होती हैं । (तन्वे) शरीर के लिए [वर्म वासांसि भवन्ति] कवचरूपी वस्त्र होते हैं । और वह [स्वर्गं लोकं अश्नुते] स्वर्ग लोक प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—यह पञ्चभोजनी अजन्मा आत्मा जो समर्पण करता है उसको उक्त कारण अनन्त यज्ञ करनेका फल प्राप्त होता है, और वह अनन्त लोकोंको प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

इस यज्ञके लिए किसी की हड्डियोंको तोडनेकी आवश्यकता नहीं और मज्जाओंको निचोडनेकी भी आवश्यकता नहीं है । इसका सबका सब लेकर इस विशालमें प्रविष्ट करना चाहिए ॥ २३ ॥

यही इस यज्ञका रूप है । उस विशालके साथ इसका संबंध जोडता है । इससे इसको अन्न बल और तेज प्राप्त होता है जो पंचभोजनी अजन्म आत्माका समर्पण करता है ॥ २४ ॥

इस समर्पण करनेवालेको पांच सुवर्ण, पांच नवीन वस्त्र, और पांच कामधेनु प्राप्त होती हैं ॥ २५ ॥

इस समर्पण करनेवालेको पांच सुवर्ण और पांच प्रकाश प्राप्त होकर शरीरके लिए कवच जैसे वस्त्र प्राप्त होते हैं और स्वर्ग लोक प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्य विन्दतेऽपरम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ॥ २७ ॥
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २८ ॥
अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम् । वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥२९॥
आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥ ३० ॥ (१३)
यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद । एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः ॥
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३१ ॥

अर्थ—[या पूर्वं पतिं वित्त्वा] जो पहिले पतिको प्राप्त करके, [अथ अपरं विन्दते] पश्चात् दूसरे अन्यको प्राप्त करती है, [तो पञ्चौदनं अजं ददतः] वे दोनों पञ्च भोजनवाले अजन्मा आत्माका समर्पण करके [न वियोषतः] वियुक्त नहीं होती ॥ २७ ॥

(यः पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं अजं ददाति) जो पञ्च भोजनवाले दक्षिणाके तेजसे युक्त अजन्मा आत्माका समर्पण करता है वह (अपरः पतिः) दूसरा पति (पुनर्भुवा समानलोकः भवति) पुनर्विवाहित स्त्रीके साथ समान स्थानवाला होता है ॥ २८ ॥

(अनुपूर्ववत्सां धेनुं) क्रमसे प्रतिवर्ष बछडा देनेवाली गौको और (अनड्वाहं) बैलको तथा (उपबर्हणं वासः हिरण्यं) ओढनी, वस्त्र और सोना (दत्वा) देकर (ते उत्तमां दिवं यन्ति) वे उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त होते हैं ॥ २९ ॥

(आत्मानं पितरं पुत्रं) अपने आपको, पिताको, पुत्रको, (पौत्रं पितामहं) पौत्रको और पितामहको (जायां जनित्रीं मातरं) स्त्री और जननी माताको और (ये प्रियाः तान्) जो इष्ट हैं उनको मैं (उपह्वये) पास बुलाता हूं ॥ ३० ॥

(एष वै नैदाघः नाम ऋतुः) यह निश्चयसे निदाघ अर्थात् ग्रीष्म ऋतु है (यः पञ्चौदनः अजः) जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै नैदाघं नाम ऋतुं वेद) जो इस ग्रीष्म ऋतुको जानता है और (यः दक्षिणा-ज्योतिषं पञ्चौदनं अजं ददाति) जो दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्चभोजनी अजका समर्पण करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं निः दहति) अप्रिय शत्रुके श्रीको सर्वथा जला देता है और वह (आत्मना भवति) अपनी आत्मशक्तिसे प्रभावित होता है ॥ ३१ ॥

भावार्थ– जो पहिले पतिको प्राप्त करके पश्चात् पुनर्विवाहसे दूसरे पतिको प्राप्त करती है, वह इस पञ्चभोजनी अजका समर्पण करके वियुक्त नहीं होती ॥ २७ ॥

जो पञ्चभोजनी अजन्मा आत्माका समर्पण करता है वह दूसरा पति पुनर्विवाहित पतिके समान ही होता है ॥२८॥

प्रतिवर्ष बच्चा देनेवाली गौ, उत्तम बैल, ओढनेका वस्त्र और सुवर्ण इनका दान करनेसे उत्तम स्वर्ग प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

अपना आत्मा, पिता, पितामह, पुत्र, पौत्र, धर्मपत्नी, जन्मदेनेवाली माता, और जो हमारे प्रिय हैं उन सबको मैं बुलाता हूं और यह बात सुनाता हूं ॥ ३० ॥

*

यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद ।
कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः ०।०।० ॥ ३२ ॥
यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद ।
संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वै संयन्नाम ०।०।० ॥ ३३ ॥
यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद ।
पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वै पिन्वन्नाम ०।०।० ॥ ३४ ॥
यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद ।
उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥
एष वा उद्यन्नाम ०।०।० ॥ ३५ ॥
यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेद ।
अभिभवन्तीमभिभवन्तीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते ॥

अर्थ— (एष वै कुर्वन् नाम ऋतुः यत् अजः ०) यह निःसंदेह कर्ता नामक ऋतु है जो अज पञ्चभोजनी है। (यः वै कुर्वन्तं नाम ऋतुं वेद०) कर्ता नामक इस ऋतुको जानता है और जो दक्षिणाके तेजसे युक्त इस पञ्चभोजनी अजका दान करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुके (कुर्वतीं कुर्वतीं एव श्रियं आदत्ते) प्रयत्नमयी श्रीको हर लेता है ॥ ३२ ॥

(एष वै संयत् नाम ऋतुः यत् अजः ०) यह संयम नामक ऋतु है जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै संयन्तं नाम ऋतुं वेद०) जो निश्चयसे संयम नामक ऋतुको जानता है और जो दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्चभोजनी अजका समर्पण करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुकी (संयतीं संयतीं एव श्रियं आदत्ते) संयमसे प्राप्त श्रीको हर लेता है ॥ ३३ ॥

(एष वै पिन्वन् नाम ऋतुः यत् अजः ०) यह पोषण नामक ऋतु है जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै पिन्वन्तं नाम ऋतुं वेद०) जो निश्चयसे पोषक नामक ऋतुको जानता है और दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्च भोजनी अजका समर्पण करता है, वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य पिन्वन्तीं नाम श्रियं आदत्ते) अप्रिय शत्रुकी पोषक श्रीको हर लेता है ॥३४॥

(एष वै उद्यन् नाम ऋतुः यत् अज०) यह निःसन्देह उदय नामक ऋतु है जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै उद्यन्तं नाम ऋतुं वेद०) जो निश्चयसे उदयरूपी ऋतुको जानता है और दक्षिणायुक्त पञ्चभोजनी अजको देता है, वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुकी (उद्यतीं उद्यतीं एव श्रियं आदत्ते) उदयको प्राप्त होनेवाली श्रीको हर लेता है ॥ ३५ ॥

(एष वै अभिभूः नाम ऋतुः) यह निःसन्देह विजय नामक ऋतु है (यत् अजः पञ्चौदनः) जो पञ्चभोजनी अज है। (यः वै अभिभुवं नाम ऋतुं वेद) जो विजय नामक इस ऋतुको जानता है और (यः दक्षिणा) जो दक्षिणाके तेजसे युक्त पञ्चभोजनी अजका समर्पण करता है वह (अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य) अप्रिय शत्रुके (अभिभवन्तीं

एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना॥
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३६ ॥
अजं च पचत पञ्च चौदनान्।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः सान्तर्देशाः प्रति गृह्णन्तु त एतम् ॥ ३७ ॥
तास्ते रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं तास्य आज्यं हविरिदं जुहोमि ॥ ३८ ॥ (१४)

अभिभवन्ती एव श्रियं आदत्ते) परास्त करनेवाली शोभाको हर लेता है। इसके (अप्रियस्य ०) अप्रिय शत्रुकी श्रीको जला देता है और (आत्मना भवति) अपनी शक्तिसे रहता है॥ ३६॥

(अजं पञ्च ओदनान् च पचत) इस अजन्माको और पांच भोजनोंको परिपक्व करो। (ते एतं) तेरे इस अजको सर्वा दिशः) सब दिशाएं (सान्तर्देशाः) आंतरिक प्रदेशोंके साथ (सध्रीचीः संमनसः) सहमत और एक विचारसे युक्त होकर (प्रतिगृह्णन्तु) स्वीकार करें॥ ३७॥

(ताः ते तुभ्यं तव एतं रक्षन्तु) वे तेरी तेरे लिए तेरे इस आत्माकी रक्षा करें। (ताभ्यः इदं आज्यं हविः जुहोमि) उनके लिए इस घी और हवन सामग्रीका हवन करता हूं॥ ३८॥

भावार्थ— तप्तता, कर्म, संयम, पुष्टि, उद्यम, और विजय ये छः ऋतु हैं। ये छः ऋतु इस पंचभोजनी अजका रूप है। जो इसका स्वरूप जानता है और इसका समर्पण करता है, वह शत्रुको परास्त करता है और अपने आत्माकी शक्ति बढाता अर्थात् आत्मिक बलसे युक्त होता है॥ ३१-३६॥

इस अजको और इसके पांचों भोगोंको परिपक्व बनाओ, सब दिशा और उपदिशाएं इसको अपनाएं, अर्थात् यह सब दिशाओंका बने॥ ३७॥

ये सब आत्माकी रक्षा करें और आत्मरक्षासे तेरी उन्नति हो। इसी उद्देश्यसे इस घी की आहुती मैं देता हूं, यह एक समर्पणका उदाहरण है॥ ३८॥

पञ्चौदन अज।

इस सूक्तमें 'पञ्चौदन अज' को स्वर्गधाम कैसा प्राप्त होता है, इसका वर्णन है। सबसे पहिले यह पञ्चौदन अज कौन है इस बातका परिचय करना चाहिये। 'पञ्चौदन अज' (पञ्च+ओदन अज) का अर्थ पांच प्रकारके भोजनोंवाले अज हैं। अर्थात् पांच प्रकार के अजका भोग करनेवाला यह अज है।

'अज' शब्दके अर्थ—" अजन्मा, सदासे रहनेवाला, सर्व शक्तिमान् परमात्मा, जीव, आत्मा बालक, बकरा, धान्य " ये होते हैं। इनमेंसे यहां किसका ग्रहण करना चाहिये यह एक विचारणीय बात है। 'अज' शब्दसे यहां परमात्माका ग्रहण करना अयोग्य है, क्योंकि वह स्वभावसे परम उच्च लोकमें सदा विराजमान ही है उसको उच्च लोकमें जानेकी आवश्यकता ही नहीं है। यहां इस सूक्तमें जिस अजका वर्णन है उसके विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

सुकृतां लोकं गच्छतु प्रजानन्॥ (मं० १)
तीर्त्वा तमांसि बहुधा तृतीयं नाकं नाकमताम् (मं १, ३)
तृतीये नाक अधि विश्रयैनम्॥ (मं० ४)
श्रतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः॥ (मं०५)
तृतीये नाके अधि विश्रयस्व॥ (मं० ८)

" यह मार्ग जानता हुआ पुण्य कर्म करनेवालोंके लोकको प्राप्त करे। अन्धकार दूर करके तृतीय स्वर्गधामको प्राप्त होवे। परिपक्व होकर पुण्यवानोंके लोकको जावे। तृतीय स्वर्गधाममें आश्रय करे। "

ये मंत्रभाग ऐसे आत्माको स्वर्गधाम प्राप्त करनेके सूचक हैं कि जिसको पहिले स्वर्ग नहीं प्राप्त हुआ है, जो उत्तम लोक में नहीं पहुचा है, जो अधम लोकमें है। अर्थात् यहांका अज शब्द परमात्माका वाचक नहीं, अपि तु ऐसे आत्माका वाचक है, जो उत्तम लोक को अभीतक प्राप्त नहीं हुआ है। 'अज' शब्दके दूसरे अर्थ 'धान्य' और 'बकरा' ये हैं। इनमें धान्यका स्वर्गधामको प्राप्त होना असंभव है और बकरा स्वर्गधामको जा सकता है या नहीं, इस विषयमें शंका ही है। क्योंकि स्वर्ग तो (सुकृतां लोकः) सत्कर्म करनेवालोंका लोक है। जो स्वयं सत्कर्म कर सकते हैं, वे ही अपने किये सत्कर्मोके बलसे स्वर्गधामको जा सकते हैं। अतः धान्य और बकरा स्वयं सत्कर्म करनेमें समर्थ न होनेके कारण सुकृत-लोक को प्राप्त करने में असमर्थ हैं।

यहां कई कहेंगे कि जो बकरा यज्ञमें समर्पित किया जाता है, वह समर्पित होनेके कारण स्वर्गका भागी हो सकता है। यहां विचारणीय बात यह है कि, जो स्वयं स्वेच्छासे दूसरोंकी भलाईके लिये समर्पित होते हैं, जो परोपकारके लिए आत्मसमर्पण कर सकते हैं, वे स्वर्गधाम प्राप्त करनेके अधिकारी माने जा सकते हैं। जो लोग बकरेको पकडते हैं और उसके मांसका हवन करते हैं, वे बकरेकी इच्छाका विचार ही नहीं करते। यदि इस प्रकारकी जबरदस्ती से स्वर्गधामकी प्राप्ति होनेका संभव होगा, तो जो गौयें और बकरियां व्याघ्रके जीवनके लिये समर्पित हो जाती हैं, वे सबकी सब स्वर्गको पहुंचेंगी; इतना ही नहीं परंतु अज संज्ञक धान्य यज्ञाग्निमें आहुतिद्वारा समर्पित होनेपर सीधा स्वर्गको जायगा, समिधाएं और घी भी वहां पहुंचेगा। यह तो अव्यवस्था है। व्याघ्रने गौको मारा और खाया, तो इसमें गायका आत्मसमर्पण नहीं है। क्रूर राजा प्रजाको लूटकर प्रजाकी धन संपत्ति इकट्ठी करके लेजाता है, यहां भी उस पददलित प्रजाको परोपकार, दान या सर्वस्वका मेध करनेका पुण्य नहीं मिल सकता। फल तब मिलेगा कि जब आत्मसर्वस्वका समर्पण स्वेच्छासे किया गया हो। पूर्वोक्त 'अज' के अर्थोंमें 'धान्य, बकरा' ये आत्मसमर्पण की बात जान ही नहीं सकते, इसलिये आत्मसमर्पण कर नहीं सकते। और ये स्वर्गधामको प्राप्त नहीं होसकते। परमात्मा उत्तम लोकमें सदा उपस्थित होनेसे उसको कर्म विशेषसे आत्मसमर्पण द्वारा वह लोक प्राप्त होना है ऐसी बात नहीं है। अतः शेष रहा 'जीव आत्मा' यही अर्थ यहां अपेक्षित है। यह सुकृत करता हुआ स्वर्गधाम को प्राप्त करता है और इसी कार्य के लिए संपूर्ण धर्मशास्त्र रचे गये हैं।

इस सूक्तके 'अज' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ 'बकरा' लेकर कइयोंने बकरेको काटना, पकाना, उसके अंश देवको देना और उसको स्वर्गको भेजना ऐसे अर्थ किये हैं। वे उक्त कारण युक्तियुक्त नहीं है। अस्तु, इस तरह यहां इस सूक्तमें अज शब्दका अर्थ जीव, आत्मा किंवा जीवात्मा है।

अब देखना है कि इसको 'पञ्चौदन' क्यों कहा है। यह पांच प्रकारका अन्न खाता है इसी लिए इसको 'पञ्चभोजनी' अज कहा है। इसके पांच भोजन कौनसे हैं, ? शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच विषय इसके पांच भोजन हैं, ये परस्पर भिन्न हैं और ये इसके उपभोग के विषय हैं। इस विषयमें कहा है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्योऽभिचाकशीति॥
ऋ० १। १६४। २०; अथर्व० ९। ९। (१४)। २०

" एकही (शरीररूपी) वृक्षपर दो पक्षी (दो आत्मा—जीवात्मा और परमात्मा) बैठे हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) इस वृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा न खाता हुआ केवल प्रकाशता है।

इस वृक्षको शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच भोगरूपी फल लगते हैं। इनका भोग यह अजन्मा आत्मा करता है। इसके पञ्च ज्ञानेंद्रियोंसे ये पांच फल इसके पास पहुंचते हैं। मनुष्य ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी हो, बद्ध हो वा मुक्त हो, जबतक यह आत्मा शरीरमें रहेगा, तबतक इसके पास ये पांच प्रकारके भोग प्राप्त होते रहेंगे। बद्ध स्थितिमें रहनेवाला आत्मा आसक्तिसे विषय सेवन करेगा और जीवन्मुक्त स्थितिमें रहा आत्मा आसक्ति छोडकर उदासीनतासे दर्शन करेगा। दोनोंको कानोंसे शब्द,

त्वचासे स्पर्श, नेत्रसे रूप, जिह्वासे रस और नाकसे गन्ध प्राप्त होगा। ये पांच भोजन इसके पास आवेंगे, कोई भोग करेगा और कोई नहीं यह बात दूसरी है। 'पंचौदन अज' का यह अर्थ है और यह हरएक जीवात्मा के विषयमें अनुभवमें आसकता है। इस 'अज' के स्वरूपका निश्चय स्वयं इस सूक्तने किया है, वह अब देखिये—

अजो अग्निः ; अजमु ज्योतिः आहुः,
अजः तमांसि अपहन्ति ॥ [मं० ७]
अग्नेः अग्निः सं बभूविथ ॥ (मं० ६)
अजः हि अग्नेः शोकात् अजनिष्ट। (मं० १३)
विप्रस्य महसः विपश्चित् विप्रः अजनिष्ट। (मं० १६)
एष धा अपरिमितो यज्ञः यदजः पञ्चौदनः। (मं० २१)

" अग्निका नाम अज है, ज्योतिका नाम अज है, यह अज अन्धकारको दूर करता है। अग्निसे अग्नि उत्पन्न हुआ है। अग्निके तेजसे अज उत्पन्न हुआ है। ज्ञानीकी महिमासे ज्ञानी विद्वान् जन्मा है। यह पञ्चौदन अज अपरिमित यज्ञ है। " ये सब मंत्र भाग यहां अज शब्दसे आत्माका भाव है, ऐसा स्पष्ट कहते हैं। क्योंकि आत्मा, ज्योति, अग्नि, ज्ञानी, यज्ञ आदि शब्द जीवात्माके लिए वैदिक वाङ्मयमें आते हैं। येही प्रतिशब्द ' अज ' शब्दका अर्थ बतानेके लिए वेदने स्वयं दिये हैं और अज शब्दके अर्थके विषयमें संदेह निवृत्ति की है। इतना करनेपर भी यहांके अज शब्दका अर्थ ' बकरा ' है ऐसा जो मानते हैं, उनकी विचार शक्तिके विषयमें क्या कहा जाय, यही हमारे समझमें नहीं आता।

यहां उक्त वचनोंमें कहा है कि इस सूक्तमें जिस अजका वर्णन है, वह अग्निके समान तेजस्वी; ज्योतिके समान प्रकाशमय, दीपके समान अन्धकारको दूर करनेवाला है, परमात्मारूप महान् अग्निसे इसकी उत्पत्ति हुई है, जिस प्रकार अग्नि प्रज्वलित होनेसे उसकी ज्वालासे स्फुलिंग चारों ओर उडते हैं, उसी प्रकार परमात्माकी दीप्तिसे जो स्फुलिंग चारों ओर फैले हैं, वेही अनंत जीवात्मा हैं। परमात्मा चेतनस्वरूप है, उससे यह चेतनस्वरूप जीव आत्मा प्रगट हुआ है। यही यज्ञ स्वरूप है। इस प्रकारका वर्णन उक्त मंत्रभागोंमें है। यह देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि यहां अज शब्दसे ' जीव आत्मा ' का ग्रहण करना योग्य है।

बकरा ऐसा अर्थ यहां के अज शब्दका लेनेसे क्या बनता है? और इन मंत्रोंकी संगति भी कैसी लग सकती है? क्या बकरा अग्नि है और ज्योति है, क्या कभी बकरेके द्वारा अंधकार दूर हुआ है? क्या कभी अग्निके प्रकाशसे बकरा प्रकट हुआ है? अर्थात् अज शब्दका अर्थ बकरा करनेपर पूर्वोक्त मंत्रोंका कोई सरल अर्थ नहीं लग सकता। अतः अज शब्दसे यहां ' जीव आत्मा ' अर्थ लेना चाहिए यह बात सिद्ध होगई। अब इसकी ऊर्ध्व गति होनेके विषयमें इस सूक्तमें क्या कहा है, देखिये—

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत्। (मं० २०)
अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति, निर्ऋतिं बाधमानः। (मं० १९)
अजं च पक्त पञ्च चौदनान्। (मं० ३७)

" यह (अजः) अजन्मा आत्मा जगतके प्रारंभसे पराक्रम कर रहा है। यह अजन्मा आत्मा परिपक्व होनेपर अवनतिको दूर करके स्वर्गमें अपने आपको धारण करता है। अजको और पांच अन्नोंको परिपक्व करो। " इस जगत्में जो कुछ भी पराक्रम हुए हैं वे इस आत्माके कारणही हैं, इस जगत्में जो चल रहा है वह आत्माकी शक्ति ही है। शरीरमें जीवात्मा और विश्वमें परमात्मा कार्य कर रहा है। जीवात्मा प्रारंभमें अपरिपक्व अवस्थामें होता है, वह शुभ संस्कारों द्वारा परिपक्व बनता है और इसकी जितनी परिपक्वता होती है, उतना यह अपनीही शक्तिके अवनतिको दूर करता रहता है। इससे सिद्ध होता है, कि जीवात्माकी दो अवस्थाएं हैं, कई तो परिपक्व स्थितिको प्राप्त होते हैं, शेष जितने हैं उतने सब अपरिपक्व अवस्थामें हैं अथवा परिपक्व होनेके मार्गमें होते हैं। इसीको मुक्त और बद्ध अवस्था कहते हैं

यहां के ' अजः पक्वः ' ये शब्द देखनेसे 'पकाया हुआ बकरा' ऐसा अर्थ कई लोग करते हैं, परन्तु पकाया हुआ बकरा स्वर्गमें जानेका अनुभव तो नहीं है, वह सीधा मांस भक्षकोंके पेटमें जाता है। परंतु यहां का परिपक्व हुआ अज सीधा स्वर्गधामको

जाता है, अतः यहां का अज अलग है। दूसरी बात यह है कि, 'पक्व' शब्द कई अर्थोंमें प्रयुक्त होता है, मनुष्यके विचार परिपक्व हुए हैं, उसका ज्ञान पक्व हुआ है, फल परिपक्व हुआ है; इस तरह इसका भाव बडा व्यापक है। यह परिपक्व कैसा होता है इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखिए-

नैदाघं...कुर्वन्तं...संयन्तं...पिन्वन्तं...उद्यन्तं...अभिभुवं
नाम ऋतुं वेद...श्रियं आदत्ते...आत्मना भवति ॥ (मं० २१—२६)

" उष्णता, कर्तृत्व, संयम, पोषण, उद्यम और शत्रुजय ये छः आत्माके ऋतु हैं। जो इन ऋतुओंसे काम लेना जानता है वह श्रीको प्राप्त करता है और आत्माकी शक्तिसे युक्त होता है।" ये छः मंत्र आत्माकी उन्नति करनेवाली शक्तियोंके सूचक हैं। उनमें पहिले मनुष्यमें उष्णता-गर्मी-चाहिए, हरएक कार्य करनेकी स्फूर्ति इसीसे होती है, पश्चात् कर्म करने चाहिए, क्योंकि शुभ कर्मोंसे ही सुकृत लोक प्राप्त होते हैं। शुभ कर्म करनेके लिए संयम चाहिए। महत कर्म होनेके लिए पुष्टि होनी चाहिए। सतत उद्यम करना चाहिए और बीचमें जो विघ्न आवेंगे उनको दूर हटा देनेका बल भी चाहिए। ये छः गुण होनेसे और इनके द्वारा योग्य दिशासे प्रयत्न होने से मनुष्यकी उन्नति होती है।

वस्तुतः यह अजन्मा आत्मा सुख स्वरूप और स्वर्गका अधिकारी है, यह कोई अनधिकारी नहीं है, यह अग्निका ही स्फुलिंग है, अतः प्रकाशित होनेका अधिकारी है। यह परमात्माका अमृतपुत्र है इसलिए कहा है—

अजोऽसि, अज स्वर्गोऽसि। (मं० १६)

" तू अजन्मरहित है, तू स्वयं स्वर्ग है। " तू अपने आपको पतित होने योग्य न मान, जन्ममरण धारण करने योग्य न समझ। तू वस्तुतः जन्म न धारण करनेवाला है और तू ही स्वर्ग है। फिर यह दुःख तुम्हारे ऊपर क्यों आता है? इसका विचार कर, अपने पूर्व कर्म देख और आगे अपनी उन्नतिके लिये उद्यम करके अपनी उन्नतिका साधन कर। इसकी उन्नतिके साधनका मार्ग यह है—

एतं मा नय; आरभस्व; प्रजानन्, सुकृतां लोकं गच्छतु ॥ (मं० १)

" इसको उत्तम मार्गसे चला, शुभ कर्मका प्रारंभ कर; उन्नतिके मार्गको जानकर; पुण्य लोकको प्राप्त कर। " इस उपदेशमें चार भाग हैं और ये महत्त्वपूर्ण हैं। उसमें पहिला आप धर्ममार्गसे जानेका है, यह तो किसी उत्तम गुरुके आधीन रहकर ही तय किया जा सकता है, अतः पहिला (एतं नय) यह वाक्य गुरुसे कहा कि 'हे गुरो! तू इस शिष्यको सहारा देकर योग्य मार्ग से ले चल।' दूसरा वाक्य ऐसा है कि (आरभस्व) शुभ कर्मोंका प्रारंभ कर, जो पाठ गुरुसे प्राप्त हुआ है उसके अनुसार कर्म करना प्रारंभ कर। यहां कर्मोंका प्रारंभ हो जाता है। कर्म करते मनुष्य का अनुभव ज्ञान बढता है और वह (प्रजानन्) ज्ञानी होकर बढता जाता है। और अन्तमें (सुकृतां लोकं) पुण्य कर्म करनेवालोंके लोकको प्राप्त करता है। सामान्यतः मनुष्य की उन्नतिका सीधा मार्ग यही है। इस मार्गसे जानेवालेको अपने आपको अजन्मा होनेका तथा स्वयं स्वर्गरूप होनेका अनुभव अन्तमें आजाता है। इस प्रकार यह मार्गका आक्रमण करता हुआ—

अजः महान्ति तमांसि बहुधा तीर्त्वा। (मं० १)
अजः विपश्यन् तमांसि बहुधा तीर्त्वा। (मं० २)
अजः तमांसि दूरं अपहन्ति (मं० ७, ११)

" यह अजन्मा आत्मा मार्गमें बडे बडे अन्धकारोंको (विपश्यन्) विशेष रीतिसे देखता है। और उन उन अन्धकारोंको (बहुधा) अनेक रीतियोंसे [तीर्त्वा] तैरकर, लांघ कर, दूर करके पार हो जाता है। " इस तरह यह अपना मार्ग सुखा करता है और आगे बढता है। आगे बढते बढते--

अजः तृतीयं नाकं आक्रमताम् ॥ (मं० १,२)
सुकृतां लोकं गच्छतु ॥ (मं० १)
एवं तृतीये नाके अधि विश्रय। (मं० ४)

अतः गच्छन्तु सुकृतां यत्र लोकः। (मं० ५)
अतः परि...तृतीयं नाकं तत्काम। (मं० ६)
सुकृतां मध्ये प्रेहि; तृतीये नाके अधि विश्रयस्व। (मं० ८)

" शुभ कर्म करनेवालोंके मध्यमें जा और वे पुण्यशील महात्मा लोग जहां जाते हैं, उस तृतीय स्वर्गधाम में जाकर विराजमान हो।" इस प्रकार इसकी उन्नति हो जाती है। तीसरे स्वर्गधामको प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त करनेके पूर्व पहिले और दूसरे स्वर्गकी योग्यता मनुष्य प्राप्त कर सकता है और अन्तमें उसको तृतीय स्वर्गधामकी प्राप्ति होना संभव है। ये तीन स्वर्ग कौनसे हैं, इसका भी यहां विचार करना चाहिये।

सब जानते हैं कि यह मनुष्यलोक है, जो स्थूल जगत् है इसीको मृत्युलोक कहते हैं, क्योंकि इसमें सदा घट बढ हुआ करती है। इससे दूसरा परन्तु इसमें गुप्त रूपसे रहा सूक्ष्म लोक है, इस जगत्के प्रत्येक पदार्थकी प्रतिकृति इस सूक्ष्म सृष्टिमें रहती है। जागृतीके अन्दर कार्य करनेवाला मन सुप्त होनेपर अनेक और विविध—दृश्य—इससे भी अतितेजस्वी दृश्य-दिखाई देते हैं। यह सूक्ष्म सृष्टि है। इसको कामसृष्टि भी कहते हैं। स्थूल जगत्की ही यह प्रतिकृति होनेके कारण जो सुखदुःख स्थूल सृष्टिमें हैं वैसे ही इसमें होते हैं, तथापि स्थूलके बन्धन और प्रतिबंध इसमें न होनेसे इसका महत्त्व स्थूलसे अधिक है। ये दोनों अनुभव जब सम्पन्न हो जाते हैं और कारण अवस्थामें जब मनुष्य पहुंचकर स्वतंत्रतासे विराजता है, तो उसको स्वर्गधाम प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं। इसमें तीन दर्जे हैं ऐसा मानते हैं। प्रथम मध्यम और उत्तम ये तीन अवस्थाएं इस स्वर्गमें हैं जिसके जैसे सुकृत होते हैं उसको वैसी अवस्था यहां प्राप्त होती है। सुकृतके अनुसार प्राप्त होनेवाली यह अवस्था होनेके कारण इसमें प्रत्येकका अनुभव सुखात्मक होनेके कारण भिन्न भिन्न होता है। जिस प्रकार सुषुप्ति समाधि और मुक्तिमें ब्रह्मरूपता होती है, परंतु सुषुप्तिकी निचले स्थानकी और मुक्तिकी उच्च स्थानकी होती है, इसी प्रकार यहां समझना उचित है।

तृतीय स्वर्गधाममें पहुंचनेका आशय यह है। अतः पाठक इस अत्यन्त उच्च अवस्थाकी प्राप्ति करनेका यत्न करें। यही उत्तम स्थान, परमधाम, स्वर्ग या जो कुछ धर्मग्रंथोंसे वर्णित हुआ है वह यही है। सदाचारसे इसकी प्राप्ति होती है। परिपक्व आत्मा होनेपर इसको प्राप्त कर सकता है, इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रभाग देखने योग्य है—

तप्तात् चरोः अतप्तः (सन्) उत्क्राम। (मं ६)

"तपे हुए पात्रमें रहता हुआ भी जो तप्त नहीं होता, वह उत्क्रान्त होनेका अधिकारी है।" ये ही विचार भिन्न शब्दोंमें इस प्रकार लिखे जा सकते हैं— "दुःखी घरमें रहता हुआ भी दुःखसे अलिप्त रहनेवाला, रोगियोंके स्थानमें रहता हुआ भी नीरोग रहनेवाला, परतन्त्र लोगोंमें विचरता हुआ भी जो परतन्त्र नहीं रहता, वही संतप्त प्रदेशमें शान्तिसे रह सकता है।" इसीका नाम तपस्या है।

एक बर्तनमें खिचडी पक रही हो तो उसमें रहनेवाले सभी चावल और मूंगके दाने उबलने लगते हैं, यदि एकाध दाना न उबलता वैसाही रहा, तो वह किसीके भी पेटमें हजम नहीं होता। इसी प्रकार इस विश्वके बर्तनमें यह सब जगत्की खिचडी पक रही है। इस तपे और उबलते हुए बर्तनमें जो न तपता हुआ और न गलता या न उबलता हुआ रहेगा, तो उसके इसके बाहर फेंका जाता है। यही उसकी उत्क्रान्ति है। आगे अथर्ववेद कां० ११ (३) में ही अन्नौदन पक रहा है, इस सब सृष्टिके विशाल पात्रमें यह सब खिचडी पक रही है, ऐसा बडा मनोरंजक वर्णन अलंकार रूपसे आवेगा। वहां सबका पाक हो रहा है ऐसा कहा है। इस तपे पात्रमें जहां सबको ही संताप दुःख और कष्ट हो रहे हैं, वहां जो शान्त रहेगा उसीको धन्यता प्राप्त हो सकती है। कमलपत्र जैसा पानीमें रहता हुआ भी पानीसे नहीं भीगता, उसी प्रकार परिपक्वताको प्राप्त हुआ मनुष्य इस दुःखी जगत्में रहता हुआ भी इस जगत्के दुःखों और कष्टोंसे अलिप्त रहता है। यह उदासीपन, वैराग्य, अलिप्तता, असंगवृत्ती अथवा अनाशक्ति उन्नतिका श्रेष्ठ साधन है।

भला जो लोग 'बकरेके मांसको पकानेका भात' इन मंत्रोंसे निकालते हैं, वे तपे हुए पात्रसे न तपे हुए बकरेके भागको किस प्रकार उन्नतिका पथ दिखा सकते हैं और तपे हुए पात्रमें कौनसा बकरेका भाग शान्त स्थितिमें रह सकता है? वस्तुतः यह वर्णन ही अन्य स्थितिका वर्णन है। परंतु शब्दोंका भाव न समझनेके कारण कई लोगोंने इसका विपरीत अर्थ कर लिया है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें जो असंगभाव और अनासक्तिका उपदेश है वही यहां इस मंत्रमें ' तपे पात्रमें न तपते हुए रहना ' इन शब्दोंसे किया है। पाठक इसको इस ढंगसे देखेंगे तो उनको कोई संदेह नहीं हो सकता। इस विषयमें आगे आत्मशुद्धिका एक अपूर्व उपाय भी बताया है—

"यत् दुश्चरितं चचार, पदः प्र अवनेनिग्धि,
प्रजानन् शुद्धैः शफैः आक्रमताम् ॥ (मं० ३)

"जो दुराचार हुआ है और जिससे पांव मलिन हुए हैं, तो अपने पांव धो डाल और इस बातको जान ले कि इस प्रकार चलेनेसे पांव मलिन हो जाते हैं। अतः शुद्ध पांवोंसे आगे बढ।" दुराचारसे पांव मलिन होते हैं उनको धोना चाहिये। अपने पांव स्वच्छ रखकर स्वच्छ भूमिपर पांव रखनेसे आगे दुष्ट आचार होनेकी संभावना नहीं है। यहां उपलक्षणसे (दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं) इस स्मृतिके वचनका ही आशय कहा है। इस प्रकार आत्मशुद्धिका मार्ग बताया है, अथर्ववेदमें पूर्वस्थानपर इसीका वर्णन अन्य रीतिसे किया है—

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे मुञ्चन्तु मैनसः ॥ अथर्व० ६।११५।३ ॥

"जिस प्रकार बंधनस्तंभसे पशु मुक्त होता है, जैसा मनुष्य स्नानके द्वारा मलसे मुक्त होता है अथवा जैसा छाननीसे घी पवित्र होता है, उस प्रकार मुझे पापसे पवित्र करो।" इसी मंत्रके उपदेशके अनुसार इस सूक्तके मंत्रमें (शुद्धैः शफैः आक्रमतां) अपने पांव निर्मल करके आगे बढनेको कहा है। अपना शुद्ध चालचलन रखनेका उपदेश इस आशामें है। वेदमें 'चरित्र' शब्दके 'पांव' और 'चालचलन' ऐसे दो अर्थ हैं। अर्थात् पांव (पाद) वाचक शब्दोंका अर्थ चालचलन ऐसा हो सकता है। इस प्रकार आचरण-शुद्धिसे आत्मशुद्धि करनेका उपदेश यहां किया है। इस तरह आत्मशुद्धि होनेके नंतर इसका परब्रह्मके लिये समर्पण होना चाहिये, यही इसका आत्मसमर्पण है। देखिये, इस विषयमें यह मंत्र विचारणीय है—

जीवता अजं ब्रह्मणे देयं आहुः। (मं० ७)
श्रद्धानेन दत्तः अजः तमांसि अपहन्ति। (मं० ७)

" जीवित मनुष्यको उचित है कि वह अपने (अ-जं) आत्माका समर्पण (ब्रह्मणे) परब्रह्मके लिये करे। आत्मा परमात्माके लिये समर्पित होवे। इस प्रकार श्रद्धापूर्वक समर्पित हुआ यह अजन्मा आत्मा सब प्रकारके अज्ञानान्धकार दूर करता है।" समर्पित होनेसे इसकी शक्ति बढती है, समर्पित होनेसे इसका तेज संवर्धित होता है। अब इसके पराक्रमका क्षेत्र देखिये—

पञ्चौदनः पञ्चधा विक्रमताम्। (मं० ८)

"उक्त पञ्चभोजनी अजन्मा आत्मा पांच प्रकारके कार्यक्षेत्रमें पराक्रम करे।" कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, चित्त और बुद्धि ये इसके पांच कार्यक्षेत्र हैं, इन क्षेत्रोंमें यह जीव आत्मा कार्य करता है। इन क्षेत्रोंमें यह खूब विक्रम करे। क्योंकि इसके विक्रम करनेसे ही इसकी उन्नति हो सकती है। विक्रमके विना किसीकी भी उन्नतिकी संभावना नहीं हो सकती। यह विक्रम करनेसे इसको (श्रीणि ज्योतींषि आक्रस्यमानः। मं० ८) तीन तेजोंकी प्राप्ति करता है। इसमें एक तेज स्थूलका है, दूसरा मनका है और तीसरा तेज आत्मिक है। इन तीनों तेजोंमें उन्नति होती है, अर्थात् इसके ये तेज बढते हैं। परंतु इसमें तेजोंकी वृद्धि तब होती है कि जब इसका परमात्माके लिये समर्पण होता है। तात्पर्य यह है कि, आत्माका समर्पण मुख्य है, वही उन्नतिका मुख्य साधन है। इसके विना उन्नति असंभव है। यह दर्शानेके लिये—

त्वा इन्द्राय भागं परिददामि। (मं० २)
पञ्चौदनः ब्रह्मणे दीयमानः। (९ ; १०)
पञ्चौदनं अजं ब्रह्मणे ददाति। (मं० ११, १२)
यं ब्रह्मणे निदधे। (मं० १९)

इतने मंत्रोंमें ब्रह्मके लिये अजन्मा आत्माका समर्पण करनेका वारंवार उपदेश किया है। जो बात विशेष महत्त्वपूर्ण होती है, वह वेदमें इस प्रकार वारंवार दुहराई जाती है। अर्थात् वेदमें जो उपदेश वारंवार आता है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण है ऐसा समझना चाहिये।

अब चतुर्थ और पञ्चम मंत्रमें शमिताके कर्मका उल्लेख है। इसमें त्वचाके काटने और जोडोंके अनुसार व्यवस्था करनेका तथा पात्रमें भर देनेका उल्लेख है। इस क्रियाके करनेसे यह शुक्रती लोगोंके मध्यमें जाता है ऐसा कहा है। यदि इन मंत्रोंसे पशुके काटनेका ही उद्देश है तो आगे ऐसा क्यों कहेंगे कि–

नास्यास्थीनि भिन्द्याच्च मज्ज्ञो निर्धयेत्।
सर्वमेनं समादायेदमिदं प्रवेशयेत् ॥ (मं० २३)

"इसकी हड्डियां न टूटें, न इसकी मज्जा पी जावे या चूवे, इस सबको लेकर इसमें प्रवेश करावे।" यह इसके अवयव न काटनेकी ओर इशारा है, मज्जा भी नहीं पी जावे अर्थात् इसको काटना नहीं चाहिये। इसकी हड्डियां अलग नहीं करनी चाहिये। इसकी मज्जा निकालनी नहीं चाहिये। यह इशारा स्पष्ट है। इसमें कहा है कि इसके सबके सब भागको लेकर इसमें अर्थात् ब्रह्म या परमात्मामें समर्पण करो। यही आशय इसके सब भागको उसमें प्रविष्ट करनेका है। अपने आपको परमात्माकी गोदमें सौंप देना, यही भक्तिभावकी अन्तिम सीमा है।

यदि ऐसा है तो शमिताका त्वचाका काटना और जोडोंके अनुसार उसके अवयवोंको समर्थ बनानेका भाव क्या है, यह शंका यहां आसकती है। इस शंकाके उत्तरमें निवेदन यह है कि पूर्वोक्त मंत्रोंमें जो काटना कूटना लिखा है, वह उसी मर्यादातक है कि जिस मर्यादामें उसकी हड्डियां अलग न हों, मज्जा बाहर न चूवे और अवयव अलग न हों, परंतु सब अवयव समर्थ हों। (मा अभिद्रुहः, पदशः एनं कल्पय। मं० ५) इसका द्रोह न करना और प्रत्येक जोडमें इसको समर्थ बनना। वध करना यदि चतुर्थ और पञ्चम मंत्रको अभीष्ट होता, तो उसका द्रोह न करनेकी आज्ञा उसमें क्यों आती? वधसे और दूसरा द्रोह तो क्या हो सकता है? और प्रत्येक अवयवको समर्थ बनाना भी वधसे कैसा होगा? वध न किया तो कदाचित् किसी उपायसे उसके अवयव समर्थ बनाये जा सकते हैं; परंतु वध करनेके पश्चात् तो समर्थ बनाना ही असंभव है। अतः यहां वध अभीष्ट नहीं है, यह निश्चय है।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ चमड़ीके खुरचने और जोडोंमें धमनियोंको शस्त्रोंद्वारा उत्तेजित करनेकी विधि इन मंत्रोंमें लिखी है। जैसे एक प्रकारका संधिवात जोडोंमें सुईके अग्रभाग द्वारा कुछ वनस्पतिरस डालनेसे ठीक होता है। ये सुईयां तांबेकी, चांदीकी और सोनेकी होती हैं और इसी प्रकारके कुछ शस्त्रविशेष भी होते हैं। इनसे चर्मको कुछ अंशमें हटाकर उसमें विशेष औषधिप्रयोग करनेसे शरीरके अवयव समर्थ होते होंगे। यह विधि अभीतक अज्ञात है, परंतु इसका स्वरूप इस प्रकारका कुछ है इसमें संदेह नहीं है। अस्तु, यह विषय खोजने योग्य है।

यदि कोई मनुष्य यहां इन मंत्रोंमें [अज] बकरेके वधका उल्लेख है, ऐसा ही आग्रह करे, तो वह मंत्र२० और २१ देखे, इनमें " अजके विश्वरूपका वर्णन " है। समुद्र जिसकी कोखमें हैं, उर पृथ्वी है, द्युलोक उसकी पीठ है इत्यादि वर्णन कभी बकरेका नहीं हो सकता। और यदि हो सकता है तो ' अज ' अर्थात् अजन्मा परमात्माका हो सकता है। इस परमात्माके पुत्र जीवात्माका भी यह वर्णन हो सकता है। क्योंकि परमपिताके गुणधर्म अंशरूपसे पुत्रमें आते हैं और पुत्रका विकास होनेपर पुत्रके भी गुणधर्म पिताके समान होना संभव है, अर्थात् जब जीवात्मा उन्नत होता हुआ परमात्मरूप बनता है, उस समय ये ही वर्णन उसमें घट सकते हैं। इसका विचार करने पर इस सूक्तके ' अज ' शब्दका अर्थ आत्मा है, इस विषयमें सन्देह नहीं हो सकता और जीवात्माका पूर्णतया समर्पण परमात्माके लिए करनेसे ही जब जीवात्मामें परमात्म भाव आजाय, उसी समय इसका भी पृष्ठ भाग द्युलोक और अन्तरिक्ष मध्यभाग और पृथ्वी तलका भाग हो सकता है। जैसा कि मं० २० और २१ में कहा है। और इसीलिए इसको आगे–

एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ [मं० २१]

" यह अपरिमित यज्ञ है जिसका नाम अज अर्थात् अजन्मा आत्मा है। " जीवात्मा-परमात्मामें ही यह अपरिमितता हो सकती है, बकरेमें इस प्रकारकी अपरिमितताकी कल्पना करना असंभव प्रतीत होता है। जीवात्मा की शक्ति और उन्नति अपरिमित है, इसीलिए–

अपरिमितं यज्ञं आप्नोति । अपरिमितं लोकं अवरुन्धे । [मं० २२]

" आत्माका समर्पण करनेसे अपरिमित यज्ञ होता है और आत्मसमर्पण करनेसे अपरिमित लोक प्राप्त होते हैं।" अपरिमितके दानसे ही अपरिमित फल प्राप्त हो सकता है। अन्य सब दान परिमित हैं, आत्माका दान ही अपरिमित दान है। इसी लिए अन्य पदार्थके दानसे परिमित लोक प्राप्त होते हैं और इस आत्माका समर्पण करनेसे अपरिमित लोकोंकी प्राप्ति हो जाती है।

आत्मसमर्पणके साथ वस्त्र और सुवर्ण दान भी होना चाहिए, इस विषयका विधान मं० २५, २६ और २९ में है। क्योंकि सदा दान दक्षिणाके साथ ही हुआ करता है। दक्षिणाके विना दान फलहीन हुआ करता है। मंत्र २७ और २८ में " पुनर्विवाहित पतिपत्नी पञ्चौदन अजका दान करेंगे तो वियुक्त नहीं होती " ऐसा कहा है। पाठक यहां देखें कि इन मंत्रोंमें ' ब्रह्मणे ' पद नहीं है। अर्थात् यहांका आत्मसमर्पण ब्रह्मके लिए नहीं है। पतिका पञ्चभोजनी आत्मा पत्निको समर्पित होवे और पत्नीका आत्मा पतिके लिए समर्पित होवे। पुनर्विवाहित पति हो अथवा पत्नी हो, वे पूर्व पत्नी या पतिका चिन्तन न करें, वे इस पत्नी पति को ही अपना सर्वस्व समझें। पूर्वका स्मरण करते रहनेसे परिवारमें झगडा हो सकता है और संसारका सुख दूर होता है, इसलिए कहा है कि, पति पत्नीके लिए आत्मसमर्पण करे और पत्नी पतिके लिए आत्मसमर्पण करे। यहां कई पूछेंगे कि प्रथम वारके पतिपत्नीके विषयमें ऐसा आदेश क्यों नहीं दिया है ? इसका कारण इतना ही है कि, प्रथम वार की पतिपत्नीको सामने रखनेके लिए दूसरी पत्नी या दूसरा पति नहीं होता, इससे उनको परस्पर प्रेम करना क्रमप्राप्त ही है। परंतु पुनर्विवाहित पतिपत्नीको पूर्वसंबंधका स्मरण होना संभव है, इसलिए उस दोषका निवारण करनेके लिए यहां सूचना दी है। और वह नितान्त योग्य है।

उनत्तीसवे मन्त्रमें कहा है कि गौ, वस्त्र और सुवर्णका दान करनेसे स्वर्ग प्राप्ति होती है। सत्पात्रमें दान करनेसे बडा फल हो सकता है। इनके दानका महत्त्व अन्यान्य शास्त्रोंमें भी वर्णन किया है। तीसवे मंत्रमें अपने सब संबंधियों और इष्टमित्रोंको पुकार पुकार कर कहा है कि, पूर्वोक्त उपदेशका वे उत्तम प्रकार स्मरण रखें और उस रीतिसे अपनी उन्नतिकी प्राप्ति करा लेवें।

इस प्रकार इस सूक्तमें आत्मोन्नतिका विषय कहा है। निःसन्देह इसके कुछ मन्त्रभाग कठिण और संदिग्ध हैं, तथापि यहां वर्णन की हुई रीतिके अनुसार विचार करनेसे पाठकोंको इसका आशय समझमें आसकता है। आशा है इस ढंगसे विचार करके पाठक इस सूक्तके कुछ संदेह-स्थानोंको अधिक सुबोध कर सकेंगे।

अतिथि सत्कार।

(६)

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता-अतिथिः, विद्वा।)

[१]

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् ॥ १ ॥
सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः ॥ २ ॥
यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते ॥ ३ ॥
यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति ॥ ४ ॥
या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥ ५ ॥
यत् तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥ ६ ॥
यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ॥ ७ ॥
यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥ ८ ॥
यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमवरुन्द्धे ॥ ९ ॥

अर्थ- (यः प्रत्यक्षं ब्रह्म विद्यात्) जो प्रत्यक्ष ब्रह्मको जानता है, (यस्य परूंषि संभाराः) उसके अवयव यज्ञसामग्री हैं, (यस्य अनूक्यं ऋचः) उसकी रीढ ऋचाएं हैं ॥ (यस्य लोमानि सामानि) उसके बाल साम हैं, और उसका (हृदयं यजुः उच्यते) हृदय यजु है ऐसा कहा जाता है। तथा उसका (परिस्तरणं इत् हविः) ओढनेका वस्त्र हवि है ॥ १-२ ॥

(यत् वै अतिथिपतिः) जो तो गृहस्थ (अतिथीन् प्रतिपश्यति) अतिथियोंकी ओर देखता है, मानो वह (देवयजनं प्रेक्षते) देवयज्ञ को ही देखता है ॥ (यत् अभिवदति दीक्षां उपैति) जो अतिथिसे बात करता है वह यज्ञदीक्षा लेनेके समान है। (यत् उदकं याचति) जो तो वह जल मांगता है, और (अपः प्र णयति) जल उसके आगे धर देता है ॥ वह मानो (याः एव यज्ञे आपः प्रणीयन्ते) जो यज्ञमें जल ले जाते हैं (ताः एव ताः) वही जल है ॥ ३-५ ॥

(यत् तर्पणं आहरन्ति) जो पदार्थ अतिथिकी तृप्ति करनेके लिए ले जाते हैं, (यः एव अग्नीषोमीयः पशुः बध्यते स एव सः) वह मानो अग्नी और सोमके लिये पशु बांधा जाता है, वही वह है ॥ (यत् आवसथान् कल्पयन्ति) जो अतिथिके लिए स्थानका प्रबंध करते हैं (सदोहविर्धानानि एव तत् कल्पयन्ति) वह मानो यज्ञमें सद और हविर्धानकी रचना करना ही है ॥ (यत् उपस्तृणन्ति) जो बिछाया जाता है (बर्हिः एव तत्) वह मानो यज्ञका कुशा घास ही है ॥ (यत् उपरिशयनं आहरन्ति) जो उसपर बिछौना लाते हैं (तेन स्वर्गं लोकं अवरुन्द्धे) उससे स्वर्ग लोक ही मानो समीप जाते हैं ॥ ६—९ ॥

यत् कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते ॥ १० ॥
यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥ ११ ॥
यत् पुरा परिवेषात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ ॥ १२ ॥
यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति ॥ १३ ॥
ये व्रीहयो यवा निरूप्यन्तेंऽशव एव ते ॥ १४ ॥
यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ॥ १५ ॥
शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः ॥ १६ ॥
स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कम्भ्योऽवाय्यानि
पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम् ॥ १७ ॥ (१५)

[२]

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्याणि
प्रेक्षत इदं भूया ३ इदा ३ मिति ॥ १ ॥ १८ ॥

अर्थ—(यत् कशिपु उपबर्हणं आहरन्ति) जो चादर और सिरहना—अतिथिके लिए ले आते हैं, वह मानो यज्ञके (ते परिधयः एव) परिधि हैं ॥ (यत् आञ्जन—अभ्यञ्जनं आहरन्ति) जो आंखोंके लिए अञ्जन और शरीरके मलनेके लिए तेल लाते हैं, वह मानो, (तत् आज्यं एव) वह घृत ही है ॥ १०-११ ॥

(यत् परिवेशात् पुरा) जो भोजन परोसनेके पूर्व अतिथिके लिये (खादं आहरन्ति) खानेके हेतुसे लाते हैं वह मानो, (तौ पुरोडाशौ एव) पुरोडाश हैं ॥ (यत् अशनकृतं ह्वयन्ति) जो भोजन बनानेवालेको बुलाते हैं, वह मानो (हविष्कृतं एव तत् ह्वयन्ति) हविकी सिद्धता करनेवालेको बुलाना है ॥ १२—१३ ॥

(ये व्रीहयो यवा निरूप्यन्ते) जो चावल और जौ देखे जाते हैं (ते अंशवः एव) वे सोमलताके खण्ड ही हैं ॥ (यानि उलूखलमुसलानि) जो ओखली और मुसल अतिथिके लिए धान्य कूटनेके काम आते हैं मानो (ते ग्रावाणः एव) वे सोमरस निकालनेके पत्थर ही हैं ॥ १४-१५ ॥

(शूर्पं पवित्रं) अतिथिके लिए जो छाज बर्ता जाता है वह यज्ञमें बर्ते जानेवाले पवित्र के समान है, इसी प्रकार (तुषा ऋजीषा) भानके तुष होते हैं वे सोमरस छाननेके बाद अवशिष्ट रहनेवाले सोमलतातुओंके समान हैं। (अभिषवणीः आपः) अतिथिभोजनके लिए प्रयुक्त होनेवाला जल यज्ञके जलके समान है ॥ (दर्वी स्रुक्) कड़छी स्रुचा के समान है, (आयवनं ईक्षणं) पकते समय अन्नका हिलाना यज्ञके ईक्षण कर्मके समान है, (कुम्भ्यः द्रोणकलशाः) पकानेके देगची आदि पात्र यज्ञके द्रोणकलशों के समान हैं, (पात्राणि वाय = व्यानि) अतिथिके लिए जो अन्य पात्र लाये जाते हैं वे यज्ञके वायव्य पात्र ही हैं और (इयं एव कृष्णाजिनं) यही कृष्णाजिन है ॥ (१६-१७)

[२] (इदं भूयः इदं इति) यह अधिक या यह ठीक है ऐसा जो (आहार्याणि प्रेक्षते) अतिथिको देने योग्य पदार्थोंका निरीक्षण करता है, वह (अतिथिपतिः) अतिथिका पालन करनेवाला यजमान (एतत्) इससे मानो (यजमान ब्राह्मणं वै कुरुते) यजमानके ब्राह्मणके समान कार्य करता है ॥ १ ॥ १८ ॥

भावार्थ—अतिथि घरमें आनेपर उसके लिए जो जो पदार्थ दिये जाते हैं वे मानो यज्ञके अन्दर प्रयुक्त होनेवाले पदार्थों के समान ही हैं। अर्थात् अतिथिका सत्कार करना एक यज्ञ करनेके समान ही है ॥ १-१७ ॥

यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ २ ॥ १९ ॥
उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥ २० ॥
तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ॥ ४ ॥ २१ ॥
स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥ ५ ॥ २२ ॥
एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥ ६ ॥ २३ ॥
स य एवं विद्वान् न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न
मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥ २४ ॥
सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥ ८ ॥ २५ ॥
सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥ ९ ॥ २६ ॥
सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो वितताध्वर आहुतयज्ञक्रतुर्य उपहरति ॥ १० ॥ २७ ॥
प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥ ११ ॥ २८ ॥

अर्थ- (यत् आह) जो कहता है कि (भूयः उद्धर इति) अधिक परोस कर अतिथिको दो, तो (तेन) इससे वह (प्राणं वर्षीयांसं एव कुरुते) अपने प्राणको चिरस्थायी बनाता है ॥ जो उसके पास अन्नादि (उपहरति) ले जाता है वह मानो (हवींषि आसादयति) हविके पदार्थ लाता है ॥ २—३ ॥ १९-२० ॥

(तेषां आसन्नानां) उन लाये पदार्थोंमेंसे कुछ पदार्थोंका (अतिथिः आत्मन् जुहोति) अतिथि अपने अन्दर हवन करता है, वह भोजन स्वीकारता है ॥ (हस्तेन स्रुचा) हाथरूपी स्रुचासे, (प्राणे यूपे) प्राणरूपी यूपमें (स्रुक्कारेण वषट्कारेण) भोजन खानेके 'स्रुक् स्रुक्' ऐसे शब्दरूपी वषट्कारसे वह अपनेमें एक एक आहुति डालता है ॥ (यत् अतिथयः) जो ये अतिथि हैं वे (प्रियाः अप्रियाः च) प्रिय हों अथवा अप्रिय हों, वे (ऋत्विजः) आतिथ्य यज्ञके ऋत्विज यजमानको (स्वर्गं लोकं गमयन्ति) स्वर्गलोकको पहुंचाते हैं ॥ ४-६ ॥ २१—२३ ॥

(यः एवं विद्वान्) इस तत्त्वको जानता हुआ (सः द्विषन्) न अश्नीयात् वह किसीका द्वेष करता हुआ न भोजन करे । (द्विषतः अन्नं न अश्नीयात्) द्वेष करनेवाले भोजन न खावे (न मीमांसितस्य) संशयित आचरणवाले मनुष्यका भोजन न खावे और (न मीमांसमानस्य) न संदेह करनेवालेका अन्न अतिथि खावे ॥ ७ ॥ २४ ॥

(यस्य अन्नं अश्नन्ति) जिसका अन्न अतिथि लोग खाते हैं, (सर्वः वै एष जग्धपाप्मा) उसके सब पाप झड जाते हैं । तथा (यस्य अन्नं न अश्नन्ति) जिसका अन्न अतिथि नहीं खाते (सर्वः वै एष अजग्धपाप्मा) उसके सब पाप वैसे के वैसे रहते हैं॥ ८-९ ॥ २५-२६ ॥

(यः उपहरति) जो गृहस्थ अतिथिकी सेवाके लिए आवश्यक सामग्री उसके पास ले जाता है वह मानो (सर्वदा वै एषः युक्तग्रावा) वह सदासर्वदा सोमरस निकालनेके पत्थरोंसे रस निकालता ही रहता है, वह सर्वदा (आर्द्र पवित्रः) रस छानता रहता है, जिसकी छाननी सदा गीली रहती है, वह (वितत—अध्वरः) सदा यज्ञ करता है, वह सदा (आहुत, यज्ञ क्रतुः) यज्ञ समाप्त करनेके समान रहता है ॥ १०॥ २७ ॥

(यः उपहरति) जो अतिथिको समर्पण करता है वह मानो (एतस्य प्राजापत्यः वै यज्ञः विततः) उसके प्राजापत्य यज्ञका फैलाव हुआ है ॥ (यः उपहरति) जो अतिथिको दान देता है वह मानो (प्रजापतेः विक्रमान् अनुविक्रमते) प्रजापतिके विक्रमोंका अनुकरण करता है ॥ ११-१२ ॥ २८-२९ ॥

भावार्थ-अतिथिका योग्य आदर-सत्कार करना मानो बडे बडे यज्ञ करनेके समान है ॥ १-११ ॥ १८-३०॥

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति ॥ १२ ॥ २९ ॥
योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो
यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥ १३ ॥ ३० ॥ (१६)

(३)

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ १ ॥ ३१ ॥
पयश्च वा एष रसं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ २ ॥ ३२ ॥
ऊर्जां च वा एष स्फातिं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ३ ॥ ३३ ॥
प्रजां च वा एष पशूंश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ४ ॥ ३४ ॥
कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ५ ॥ ३५ ॥
श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ६ ॥ ३६ ॥
एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥ ३७ ॥
अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ॥ ८ ॥ ३८ ॥
एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ९ ॥ ३९ ॥ (१७)

अर्थ- (यः अतिथीनां) जो अतिथियोंके शरीरमें पाचक अग्नि है (सः आहवनीयः) वह आहवनीय अग्नि है, (यः वेश्मनि सः गार्हपत्यः) जो घरमें अग्नि होता है वह गार्हपत्य अग्नि है, (यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः) जिस पर अन्न पकाते हैं वह दक्षिणाग्नि है ॥ १३ ॥ ३० ॥

[३] [यः अतिथेः पूर्वं अश्नाति] जो अतिथिके पूर्व स्वयं भोजन करता है (एष) वह [गृहाणां इष्टं च वै पूर्तं च अश्नाति] अपने घरके इष्ट और पूर्तको ही खाजाता है ॥ जो अतिथिके भोजन करनेके पूर्व भोजन करता है वह मानो घरके (पयः च रसं च) दूध और रसको, (ऊर्जां च स्फातिं च) अन्न और समृद्धिको, [प्रजां च पशून् च] प्रजा और पशुको, [कीर्तिं च यशः च] कीर्ति और यशको, [श्रियं च संविदं च] श्री और संज्ञान को (अश्नाति) खाजाता है ॥ १—६ ॥ ३१-३६ ॥

[एष वै अतिथिः यत् श्रोत्रियः] यह अतिथि निश्चयसे श्रोत्रिय है [तस्मात् पूर्वः न अश्नीयात्] इसलिए उससे पूर्व स्वयं भोजन करना उचित नहीं है ॥ ७ ॥ ३७ ॥

[अतिथौ अशितावति अश्नीयात्] अतिथिके भोजन करनेके पश्चात गृहस्थ स्वयं भोजन करे । [यज्ञस्य सात्मत्वाय] यज्ञकी सांगता के लिए (यज्ञस्य अविच्छेदाय) यज्ञका भंग न होनेके लिये [तत् व्रतं] यह व्रत पालन करना गृहस्थीको योग्य है ॥ ८ ॥ ३८ ॥

[एतत् वै उ स्वादीयः] वह जो स्वादयुक्त है [यत् अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा] जो गौसे प्राप्त होनेवाले दूध या अन्य मांसादि पदार्थ हैं [तत् एव न अश्नीयात्] उसमें से कोई पदार्थ अतिथिके पूर्व भी न खावे ॥ ९ ॥ ३९ ॥

भावार्थ-अतिथिका भोजन पहिले होवे, पश्चात् जो अवशिष्ट बचा हो वह घरके मनुष्य खावें । कभी किसी अवस्थामें अतिथिके भोजन करनेके पूर्व घरका कोई मनुष्य भोजन न करे । ऐसा करनेसे गृहस्थ यज्ञ की पूर्णता होती है। प्रत्येक गृहस्थ इस व्रत का पालन करे ॥ १—९ ॥ ३१—३९ ॥

(४)

स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १ ॥
यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनावं रुन्द्धे ॥ २ ॥ ४० ॥
स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥ ३ ॥
यावदतिरात्रेणेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनावं रुन्द्धे ॥ ४ ॥ ४१ ॥
स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ॥ ५ ॥
यावत् सत्त्रसद्येनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनावं रुन्द्धे ॥ ६ ॥ ४२ ॥
स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ॥ ७ ॥
यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनावं रुन्द्धे ॥ ८ ॥ ४३ ॥
स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥
प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां भवति य एवं
विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ १० ॥ ४४ ॥ (१८)

(५)

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति ॥ १ ॥
बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्टया प्रति हरति विश्वे देवा निधनम् ॥ २ ॥

अर्थ- [४] [यः एवं विद्वान्] जो इस बातको जानता हुआ अतिथिके लिए [क्षीरं उपसिच्य उपहरति] दूध अच्छे पात्रमें रखकर के आता है, उसको [यावत् सुसमृद्धेन अग्निष्टोमेन इष्ट्वा अवरुन्धे] जितना उत्तम समृद्ध अग्निष्टोम यज्ञका यजन करनेसे फल मिलता है, [तावत् एतेन अवरुन्धे] उतना इससे मिलता है ॥ १—२॥४०॥

(यः एवं विद्वान्) जो इस बातको जानता हुआ अतिथिके लिए (सर्पिः उपसिच्य उपहरति) घी बर्तन में रख कर के आता है उसको उतना फल मिलता है कि जितना किसीको उत्तम (सुसमृद्धेन अतिरात्रेण) समृद्ध अतिरात्र नामक यज्ञ करनेसे प्राप्त हो सकता है ॥ ३-४ ॥ ४१ ॥

जो इस बातको जानता हुआ मनुष्य अतिथिको देनेके लिए (मधु उपसिच्य उपहरति) मधु अर्थात् अहद उत्तम पात्रमें रखकर अतिथिके पास ले आता है, उसको उतना फल मिलता है कि जितना किसीको (सुसमृद्धेन सत्रसद्येन इष्ट्वा) उत्तम समृद्ध सत्रसद्य नामक यज्ञके करनेसे मिलता है ॥ ५-६ ॥ ४२ ॥

जो इस बातको जानता हुआ (मांसं उपसिच्य) मांसको पात्रमें रखकर अतिथिके पास ले आता है, उसको उतना फल मिलता है जितना उत्तम समृद्ध (द्वादशाहेन इष्ट्वा) द्वादशाह यज्ञके करनेसे किसीको प्राप्त हो सकता है ॥ ७-८ ॥ ४३ ॥

जो इस बातको जानता हुआ (उदकं उपसिच्य) जल उत्तम पात्रमें डालकर अतिथिके पास ले आता है, वह (प्रजानां प्रजननाय प्रतिष्ठां गच्छति) प्रजाओंके प्रजनन अर्थात् उत्पत्तिके लिए स्थिरताको प्राप्त होता है और (प्रजानां प्रियः भवति) प्रजाओंके लिए प्रिय होता है ॥ ९—१०॥ ४४ ॥

भावार्थ— जो गृहस्थी उत्तम श्रद्धासे दुग्धादि पदार्थ उत्तम स्वच्छ पात्रमें रखकर अतिथिको समर्पण करनेकी बुद्धिसे उसके पास ले आता है, उसको बड़े बड़े यज्ञ यथार्थ करनेका फल प्राप्त होता है ॥ १-१० ॥ ४०-४४ ॥

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥ ४५ ॥
तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्र स्तौति ॥ ४ ॥
मध्यंदिन उद्गायत्यपराह्णः प्रति हरत्यस्तं यन्निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥ ४६ ॥
तस्मा अभ्रो भवन् हिङ्कृणोति स्तनयन् प्र स्तौति ॥ ६ ॥
विद्योतमानः प्रति हरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन् निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥ ४७ ॥
अतिथीन् प्रति पश्यति हिङ्कृणोत्यभि वदति प्र स्तौत्युदकं याचत्युद्गायति ॥ ८ ॥
उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनम् ॥ ९ ॥
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ १० ॥ ४८ ॥ (१९)

अर्थ-[५] (यः एवं वेद) जो इस अतिथिसत्कारके व्रतको जानता है (तस्मै) उस मनुष्यके लिये (उषा हिंकृणोति) उषा आनन्द-सन्देश देती है, (सविता प्र स्तौति) सूर्य विशेष प्रशंसा करता है, (बृहस्पतिः ऊर्जया उद्गायति) बृहस्पति बल के साथ उसके गुणोंका गान करता है, (त्वष्टा पुष्टया प्रतिहरति) त्वष्टा उसको पुष्टि प्रदान करता है, (विश्वेदेवाः निधनं) सब अन्य देव उसको आश्रय प्रदान करते हैं। अतः वह (भूत्याः प्रजायाः पशूनां निधनं भवति) संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान बनता है ॥ १-३ ॥ ४५ ॥

जो इस अतिथिसत्कारके व्रत को जानता है, (तस्मै उद्यन् सूर्यः हिंकृणोति) उसके लिये उदय होता हुआ सूर्य आनन्दका सन्देश देता है, (संगवः प्र स्तौति) प्रभात समय प्रशंसा करता है, (मध्यंदिनः उद्गायति) मध्यदिन उसका गुण गान करता है, (अपराह्णः प्रति हरति) अपराह्न समय पुष्टि देता है (अस्तं यत् निधनं) अस्त जाता हुआ सूर्य आश्रय देता है। इस प्रकार वह संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान होता है॥४—५ ॥ ४६॥

जो इस अतिथिसत्कारके व्रत को जानता है, (तस्मै अभ्रः भवन् हिंकृणोति) उसके लिये उत्पन्न होनेवाला मेघ आनन्द सन्देश देता है, (स्तनयन् प्रस्तौति) गर्जना करनेवाला मेघ प्रशंसा करता है, (विद्योतमानः प्रतिहरति) प्रकाशनेवाला पुष्टि देता है, (वर्षन् उद्गायति) वृष्टि करता हुआ मेघ इसका गुणगान करता है (उद्गृह्णन् निधनं) ऊपर लेनेवाला आश्रय देता है। इस प्रकार यह संपत्ति, प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान होता है ॥ ६-७ ॥४७॥

जो इस अतिथिसत्कारके व्रतको जानता है वह जब (अतिथीन् पश्यति) अतिथियोंका दर्शन करता है तो मानो वह (हिंकृणोति) आनन्दका शब्द करता है, जब वह अतिथियोंको (अभिवदति) नमस्कार करता है, तो वह कृत्य उसके (प्रस्तौति) प्रस्ताव करनेके समान होता है। जब वह (उदकं याचति) जल मांगता है तो मानो वह (उद्गायति) यज्ञके उद्गाताका कार्य करता है। (उपहरति प्रतिहरति) जब वह पदार्थ अतिथिके पास लाता है, तो वह यज्ञके प्रतिहर्ताका कार्य करता है। (उच्छिष्टं निधनं) जो अन्नादिक अतिथिके भोजन करनेके पश्चात् अवशिष्ट रहता है उसको यज्ञका अन्तिम प्रसाद समझो। इस प्रकार अतिथिसत्कार करनेवाला संपत्ति,प्रजा और पशुओंका आश्रयस्थान बनता है ॥८-१०॥४८॥

भावार्थ-हिंकार, प्रस्ताव, उद्गान, प्रतिहार और निधन ये पांच अंग सामके हैं। अतिथिसत्कार करनेवालेको ये पांचों इस प्रकार सिद्ध होते हैं। अर्थात् अतिथिसत्कार एक श्रेष्ठ यज्ञका पूर्ण साम है। अतिथिसत्कार ही गृहस्थोंका परम पवित्र और श्रेष्ठ कर्म है ॥ ८—१०॥ ४८ ॥

(६)

यत् क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत् ॥ १ ॥ ४९ ॥
यत् प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत् ॥ २ ॥ ५० ॥
यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते ॥ ३ ॥ ५१ ॥
तेषां न कश्चनाहोता ॥ ४ ॥ ५२ ॥
यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥ ५ ॥ ५३ ॥
यत् संभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत् ॥ ६ ॥ ५४ ॥
स उपहूतः पृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यत् पृथिव्यां विश्वरूपम् ॥ ७ ॥ ५५ ॥
स उपहूतोऽन्तरिक्षे भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यदन्तरिक्षे विश्वरूपम् ॥ ८ ॥ ५६ ॥
स उपहूतो दिवि भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् दिवि विश्वरूपम् ॥ ९ ॥ ५७ ॥
स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यद् देवेषु विश्वरूपम् ॥ १० ॥ ५८ ॥
स उपहूतो लोकेषुभक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यल्लोकेषु विश्वरूपम् ॥ ११ ॥ ५९ ॥
स उपहूत उपहूतः ॥ १२ ॥ ६० ॥
आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम् ॥ १३ ॥ ६१ ॥
ज्योतिष्मतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥१४॥ ६२ ॥ (२०)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ- [६]— (यत् क्षत्तारं ह्वयति) जब वह द्वारपालको बुलाता है, मानो (तत् आश्रावयति एव) वह अभिश्रवण करता है। (यत् प्रतिशृणोति) जब वह सुनता है, मानो (तत् प्रत्याश्रावयति एव) वह प्रत्याश्रवण ही है। अब अतिथिके लिए (पूर्वे च अपरे च परिवेष्टारः पात्र हस्ताः प्रपद्यन्ते) पहिले और बाद के परोसनेवाले सेवक पात्र हाथोंमें लेकर उसके पास आते हैं, मानो (ते चमसाध्वर्यव एव) यज्ञके चमसाध्वर्यु हैं ॥ (तेषां न कश्चन अहोता) उनमें कोई भी अयाजक नहीं होता है ॥ १-४ ॥ ४९-५२॥

(यत् वै अतिथिपतिः अतिथीन् परिविष्य) जो तो गृहस्थी अतिथियोंको भोजन देकर (गृहान् उप उदैति) अपने घरके प्रति जाता है, मानो (तत् अवभृथं एव उप अवैति) वह अवभृथ स्नानके लिये ही जाता है। (यत् संभागयति) जो भेट करता है, मानो वह (दक्षिणाः संभागयति) दक्षिणा प्रदान करता है। (यत् अनुतिष्ठते) जो उसके लिये अनुष्ठान करता है मानो (तत् उदवसति एव) वह यज्ञ पर्यवसान करता है ॥ ५-६ ॥ ५३-५४ ॥

(सः पृथिव्यां उपहूतः) वह इस पृथ्वीपर किसी देशमें आदरसे बुलाये अतिथि (यत् पृथिव्यां विश्वरूपं) जो कुछ इस पृथ्वीपर अनेक रंगरूपवाला अन्न है (तस्मिन् उपहूतः भक्षयति) उसको वहां निमंत्रित होकर खाता है। वह आदरसे बुलाया हुआ अतिथि (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (दिवि) द्युलोकमें, (देवेषु) देवताओंमें और (लोकेषु) सब लोकोंमें जो (विश्वरूपं) अनेक रंगरूपवाला अन्न होता है उसको वहां बैठा हुआ (भक्षयति) भक्षण करता है ॥ ७-११ ॥ ५५-५९ ॥

*

(सः बहुतः) वह आदरसे निमंत्रित किया हुआ अतिथि बहुत लाभ देता है ॥ अतिथिको आदरके साथ बुलाने-वाला गृहस्थी (इमं लोकं आप्नोति) इस लोकको प्राप्त करता है और (अमुं आप्नोति) उस लोकको भी प्राप्त करता है। (यः एवं वेद) जो इस अतिथिसत्कारके व्रतको जानता है वह (ज्योतिष्मतः लोकान् जयति) तेजस्वी लोकोंको प्राप्त करता है ॥ १२-१४ ॥ ६०—६२ ॥

अतिथिका आदर ।

अतिथिका आदरसत्कार प्रेमके साथ करनेका उपदेश करनेके लिये ये ६२ मंत्र इस सूक्तके छः पर्यायों में दिये हैं । ये मंत्र सरल होनेसे इनकी व्याख्या विशेष करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतिथिसत्कारसे विविध प्रकार के यज्ञ यथासांग करनेका फल प्राप्त होता है अर्थात् जो अतिथिसत्कार उत्तम श्रद्धासे करेगा, उसको अन्यान्य यज्ञयाग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । गृहस्थ—धर्मका यह प्रधान अंग अतिथिसत्कार है । पाठक इस सूक्तका पाठ करें और इसके इस आशयको जानें और अतिथि-सत्कार करके उसके श्रेष्ठ फलके भागी बनें ॥

इन मंत्रोंमें ' मांस ' शब्द आया है। इस मांस शब्दके अन्य अर्थ भी होते होंगे, परंतु यहां 'मांस' अर्थ अपेक्षित है ऐसा हमारा मत है और यह लेनेपर भी कोई आपत्ति नहीं है । क्योंकि मांसभोजी मनुष्यके घरमें कोई अतिथि आवे, तो अतिथिके पूर्व वह मांस भी न खावे, इत्यादि भाव यहां लेना योग्य है। वेदमें जैसा निर्मांस भोजी मनुष्योंका वर्णन है वैसा मांस भोजियोंका भी वर्णन है ।

—:०:—

गौका विश्वरूप ।

(७)

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-गौः)

(१२) (७)

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ १ ॥
सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः ॥ २ ॥
विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः ॥ ३ ॥
विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ॥ ४ ॥
श्येनः क्रोडोऽन्तरिक्षं पाजस्यं बृहस्पतिः ककुद् बृहती कीकसाः ॥ ५ ॥
देवानां पत्नीः पृष्टय उपसदः पशवः ॥ ६ ॥
मित्रश्च वरुणश्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू ॥ ७ ॥
इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो बालाः ॥ ८ ॥
ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू ॥ ९ ॥
धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः कुष्ठिका आदितिः शफाः ॥ १० ॥

अर्थ— (प्रजापतिः च परमेष्ठी च शृंगे) प्रजापति और परमेष्ठी ये गौके दो सींग हैं, (इन्द्रः शिरः) इन्द्र सिर है, (अग्निः ललाटं) अग्नि ललाट है, (यमः कृकाटं) यम गलेकी घंटी है ॥ (सोमः राजा मस्तिष्कः) राजा सोम मस्तिष्क है, (द्यौः उत्तराः हनुः) द्युलोक उपरका जबडा और (पृथ्वी अधरहनुः) पृथ्वी नीचेका जबडा है ॥ १-२ ॥

(विद्युत् जिह्वा) बिजली जीभ है, (मरुतः दन्ताः) मरुत् दांत हैं (रेवतीः ग्रीवा, कृत्तिका स्कन्धाः) रेवती गर्दन और कृत्तिका कन्धे हैं । (घर्मः वहः) उष्णता देनेवाला सूर्य वहनेका ककुदके पासका भाग है ॥ (वायुः विश्वं स्वर्गः लोकः कृष्णद्रं) वायु सब अवयव और स्वर्गलोक कृष्णद्र है और (विधरणी निवेष्यः) धारक शक्ति पृष्ठवंश-की सीमा है ॥ ३—४ ॥

(श्येनः क्रोडः) श्येन उसकी गोद है, (अन्तरिक्षं पाजस्यं) अन्तरिक्ष पेट है, (बृहस्पतिः ककुद्) बृहस्पति ककुद् है, (बृहतीः कीकसाः) बृहस्पति कोहनेका भाग है ॥ (देवानां पत्नीः पृष्टयः) देवोंकी पत्नियां पीठके भाग हैं, (उपसदः पशवः) उपसद इष्टियां पसुलियां हैं ॥ ५-६ ॥

(मित्रः च वरुणः च अंसौ) मित्र और वरुण कंधे हैं, (त्वष्टा च अर्यमा च दोषणी) त्वष्टा और अर्यमा बाहुभाग हैं, और (महादेवः बाहू) महादेव बाहु हैं ॥ (इन्द्राणी भसत्) इन्द्रपत्नी गुह्यभाग है, (वायुः पुच्छं) वायु पुच्छ है और (पवमानः बालाः) पवमान वायु बाल हैं ॥ ७—८ ॥

(ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी) ब्राह्मण और क्षत्रिय चूतर हैं, (बलं ऊरू) बल जांघें हैं ॥ (धाता च सविता च (अष्ठीवन्तौ) धाता और सविता ये टखने हैं, (गन्धर्वाः जङ्घाः) गन्धर्व जांघें हैं (अप्सरसः कुष्ठिकाः) अप्सराएं

चेतो॒ हृद॑यं यकृ॒न्मेधा॒ व्रतं॑ पु॒रीत॑त्
॥ ११ ॥
क्षुत् कु॒क्षिरि॑रा॑ वनि॒ष्ठुः पर्वता॒ः प्लाश॑यः
॥ १२ ॥
क्रोधो॑ वृ॒क्कौ म॒न्युरा॑ण्डौ प्र॒जा शेपः॑
॥ १३ ॥
न॒दी सू॒त्री व॒र्षस्य॒ पत॑य॒ स्तना॑ स्तनयि॒त्नुरू॒धः॑
॥ १४ ॥
वि॒श्वव्य॑चा॒श्चर्मौष॑धयो॒ लोमा॑नि॒ नक्ष॑त्राणि॒ रू॒पम्
॥ १५ ॥
दे॒व॒ज॒ना गुदा॑ मनु॒ष्या॒ आन्त्राण्य॒त्रा उ॒दर॑म्
॥ १६ ॥
रक्षा॑ँसि॒ लोहि॑तमितरज॒ना ऊ॒र्वध्यम्
॥ १७ ॥
अ॒भ्रं पीवो॑ म॒ज्जा नि॒धन॑म्
॥ १८ ॥
अ॒ग्निरासा॑नि॒ उत्थि॑तो॒ऽश्विना॑
॥ १९ ॥
इन्द्रः॒ प्राङ् तिष्ठ॑न् द॒क्षि॒णा तिष्ठ॑न् य॒मः
॥ २० ॥
प्र॒त्यङ् तिष्ठ॑न् धा॒तोदङ् तिष्ठ॑न्स॒वि॒ता
॥ २१ ॥
तृ॒णा॑नि॒ प्राग्नः॒ सोमो॒ राजा॑
॥ २२ ॥
मि॒त्र ई॑क्ष॒माण॒ आवृ॑त्त आन॒न्दः
॥ २३ ॥
यु॒ज्यमा॑नो वैश्वदे॒वो यु॒क्तः प्र॒जाप॑ति॒र्वि॒मु॒क्त॒ःसर्व॑म्
॥ २४ ॥

सुरभाग है, (अदितिः शफाः) अदिति खुर हैं ॥ (चेतः हृदयं) चेतना उसका हृदय है (मेधा यकृत्) मेधाबुद्धि यकृत् है, (व्रतं पुरीतत्) व्रत उसकी आंतें हैं ॥ ९—११

[क्षुत् कुक्षिः] क्षुधा कोख है, [इरा वनिष्टुः] अन्न बडी आंतें है, [पर्वताः प्लाशयः] पहाड छोटी आंतें हैं ॥ [क्रोधः वृक्कौ] क्रोध उसके गुर्दे हैं, [मन्युः आण्डौ] उत्साह अण्डकोश है, [प्रजाः शेपः] प्रजा जननेन्द्रिय है ॥१२—१३ ॥

[नदी सूत्री] नदी सूत्रनाडी है, [वर्षस्य पतयः स्तनाः] वर्षापति मेघ उसके स्तन हैं, [स्तनयित्नु ऊधः] गर्जनेवाला मेघ दूधसे पूर्ण स्तन हैं ॥ [विश्वव्यचा चर्म] सर्वत्र फैला आकाश चर्म है, [ओषधयः लोमानि) औषधियां लोम हैं, [नक्षत्राणि रूपं] नक्षत्र रूप है ॥ १४—१५ ॥

[देवजनाः गुदा] देवजन गुदा हैं, [मनुष्याः आन्त्राणि] मनुष्य आंतें हैं, [अत्रा उदरं] भक्षक प्राणी उदर है ॥ [रक्षांसि लोहितं] राक्षस रक्त है; [इतरजना ऊवध्यं] इतर जन अपचित अन्न है॥ [अभ्रं पीवः] मेघ मेदा है [निधनं मज्जा] निधन मज्जा है ॥ [अग्निः आसीनः] अग्नि आसन है और [अश्विनौ उत्थितः] अश्विनौ उत्थान है ॥ १६–१९ ॥

[इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्] इन्द्र प्राची दिशामें ठहरता है, [यमः दक्षिणा तिष्ठन्] यम दक्षिणदिशामें अवस्थान है,[प्रत्यङ् तिष्ठन् धाता] पश्चिम दिशामें ठहरता धाता है और [सविता उदङ् तिष्ठन्] सविता उत्तर दिशामें ठहरता है ॥२०-२१॥

[सोमः राजा तृणानि प्राग्नः]अब तृणको प्राप्त होता है तब वह सोम राजा होता है,[ईक्षमाणः मित्रः] अवलोकन करनेवाला सूर्य और [आवृत्तः आनन्दः] परावृत्त होनेपर वही आनंद है ॥ [युज्यमानः वैश्वदेवः] जब जोता जाता है तब वह सब देवोंके संबंधका होता है, [युक्तः प्रजापतिः] जोतनेपर प्रजापति और [विमुक्तः सर्वं] छोडनेपर सब कुछ बनता है ॥ २१—२४॥

एतद् वै विश्वरूपम् सर्वरूपम् गोरूपम् ॥ २५ ॥
उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एव वेद ॥ २६ ॥ (२१)

[एतद् वै गोरूपं] यह निःसन्देह गौका रूप है, यही [विश्वरूपं सर्वरूपं] गौका विश्वरूप और सर्वरूप है ॥ [यः एवं वेद] जो इस बातको जानता है [एनं] उसके पास [विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवः उपतिष्ठन्ति] विश्वरूपी और सर्वरूपी सब पशु रहते हैं ॥ २५-२६ ॥

गौका महात्म्य।

इस सूक्त में गौका महत्त्व वर्णन किया है। यहां गौ शब्दसे गाय और बैलका ग्रहण करना चाहिये यह स्पष्ट है। गायके अंगोंमें संपूर्ण देवताओंका निवास है और गाय ही सब देवोंके रूप बन जाती है। इतना गायका अधिकार इस सूक्तने वर्णन किया है। वैदिक धर्ममें गायका इतना महत्त्व है। गायका दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ आदि सेवन करनेसे देवताओंका सत्त्व सेवन करनेका श्रेय प्राप्त होता है। इसी प्रकार गोमूत्र और गोमय सेवन करनेसे शरीर शुद्ध होता है। इस तरह गायका महत्त्व जानकर वैदिक धर्मी लोग गायकी सेवा करें।

—:०:—

यक्ष्म-निवारण।

(८)

(ऋषिः—भृग्वंगिराः। देवता—सर्वशीर्षामयाद्यपाकरणम्)

(१३) (८)

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्। सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ १ ॥
कर्णाभ्यां ते कङ्कषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ २ ॥

अर्थ— [शीर्षक्तिं] मस्तकशूल, [शीर्षामयं] शिरदर्द [कर्णशूलं] कर्णशूल, [विलोहितं] रक्तरहित होना, अथवा पाण्डुरोग, [ते सर्वं शीर्षण्यं रोगं] तेरा सब मस्तक विकार [बहिः निर्मन्त्रयामहे] बाहर करते हैं ॥ १ ॥
(ते कर्णाभ्यां] तेरे कानोंसे, और [कंकषेभ्यः] कानोंके भीतरी भागसे [विसल्पकं कर्णशूलं] विशेष कष्ट देनेवाले कर्णशूलको तथा [सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं] तेरा सब मस्तकका रोग हम [बहिः निर्मन्त्रयामहे] बाहर करते हैं ॥ २ ॥

यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ३ ॥
यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम् । सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ४ ॥
अङ्गभेदमङ्गज्वरं विश्वाङ्ग्यं विसल्पकम् । सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ५ ॥
यस्य भीमः प्रतीक आ उद्वेपयति पूरुषम् । तक्मानं विश्वशारदं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ६ ॥
य ऊरू अनुसर्पत्यधो एति गवीनिके । यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ७ ॥
यदि कामादपकामाद्धृदयाज्जायते परि । हृदो बलासमङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ८ ॥
हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात् । यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ९ ॥
आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत् ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १० ॥ (२२)
बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात् । यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ ११ ॥

अर्थ— [यस्य हेतोः] जिस कारण [यक्ष्मः कर्णतः आस्यतः प्रच्यवते] यक्ष्म रोग कानसे और मुखसे बहता है, उस [सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं] तेरे सब सिरके रोगको हम बाहर हटाते हैं ॥ ३ ॥

[यः प्रमोतं कृणोति] जो बहिरा बनाता है, तथा [पुरुषं अन्धं कृणोति] मनुष्यको अन्धा बनाता है, [सर्वं०] उस सब सिरसंबंधी रोगको हम दूर करते हैं ॥ ४ ॥

[अंग-भेदं] अंगोंको तोडनेवाले, [अंग-ज्वरं] अंगोंमें ज्वर उत्पन्न करनेवाले, (विश्वांग्यं विसल्पकं) संपूर्ण अंगोंमें पीडा करनेवाले (सर्वं०) सब सिरसंबंधी रोगको हम दूर हटा देते हैं ॥ ५ ॥

(यस्य भीमः प्रतीकाशः) जिसका भयंकर रूप [पुरुषं उद्वेपयति] मनुष्यको कंपाता है उस [विश्वशारदं तक्मानं] सब सालभर होनेवाले उष्णरोगको [बहिः निर्मन्त्रयामहे] हम बाहर हटाते हैं ॥ ६ ॥

[यः ऊरू अनुसर्पति] जो जंघाओंतक बढता है [अधो गवीनिके एति] और जो नाडियोंतक पहुंचता है, उस (यक्ष्मं ते अन्तरंगेभ्यः) रोगको तेरे आभ्यंतरिक अंगोंसे हम [बहि०] बाहर हटा देते हैं ॥ ७ ॥

[यदि कामात्] यदि कामुकतासे अथवा यदि [अ कामात्] कामको छोडकर किसी अन्य कारणोंसे [हृदयात् परि जायते] हृदयके ऊपर उत्पन्न होता है, तो उस [बलासं हृदः अंगेभ्यः] कफको हृदयसे और अंगों से [बहि०] बाहर हम हटा देते हैं ॥ ८ ॥

(ते हरिमाणं) तेरा कामिला रोग-रक्तहीनताका रोग-(अंगेभ्यः) तेरे अवयवोंसे,[उदरात् अन्तः आप्यां] उदरके अन्दरसे जलोदर रोगको तथा [आत्मनः अन्तः यक्ष्मः-धां] अपने अन्दरसे यक्ष्मरोगको धारण करनेवाली अवस्थाको (बहि०) बाहर हम निकालते हैं ॥ ९ ॥

(बलासः आसः भवतु) कफ थूंकके रूपमें होवे और बाहर जावे । [आमयत् मूत्रं भवतु] आमदोष मूत्र होकर बाहर जावे । (सर्वेषां यक्ष्माणां विषं) सब यक्ष्मरोगोंका विष [अहं त्वत् निरवोचं] मैं तेरेसे बाहर निकालता हूं ॥ १० ॥

[तव उदरात्] तेरे पेटसे [काहाबाहं बिलं] शब्द करते हुए विष मूत्रनलिकासे [निर्द्रवतु] निकल जावे । [सर्वेषां यक्ष्माणां०] सब रोगोंका विष मैं तेरेसे बाहर निकालता हूं ॥ ११ ॥

उदरात् ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि । यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १२ ॥
याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १३ ॥
या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १४ ॥
याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षान्ति पृष्टीः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १५ ॥
यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १६ ॥
या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १७ ॥
या मज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १८ ॥
ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १९ ॥
विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ २० ॥

अर्थ— (ते उदरात्) तेरे पेटसे [क्लोम्नः नाभ्याः हृदयात् अधि] फेफड़ोंसे, नाभीसे और हृदयसे [सर्वेषां०] सब रोगोंका विष मैं तेरेसे हटाता हूं ॥ १२ ॥

(याः सीमानं विरुजन्ति) जो सीमा भागको पीडा देते हैं, और जो (मूर्धानं प्रति अर्षणीः) सिरतक बढते जाते हैं, वे रोग (अनामयाः अहिंसन्तीः) दोषरहित होकर न मारते हुए (बहिः बिलं निर्द्रवन्तु) द्रवरूपसे रन्ध्रोंके बीचसे बाहर चले जावें ॥ १३ ॥

(याः हृदयं उप ऋषन्ति) जो हृदयपर आक्रमण करती हैं और (कीकसाः अनुतन्वन्ति) हंसलीकी हड्डियोंमें फैलती हैं वे सब पीडाएं (अनामया०) दोषरहित होकर मारक न बनती हुई सब रन्ध्रोंसे द्रवरूपसे दूर हो जांय ॥१४॥

[याः पार्श्वे उप ऋषन्ति] जो पृष्ठभागपर आक्रमण करती हैं और [पृष्ठीः अनुनिक्षन्ति] पीठपर जो फैलती हैं, वे सब पीडाएं (अना०) दोषरहित होकर और मारक न बनती हुई सब रन्ध्रोंसे द्रवरूप होकर दूर हो जांय ॥ १५ ॥

(याः तिरश्चीः उप ऋषन्ति) जो तिरछी होकर आक्रमण करती हैं, और (ते वक्षणासु अर्षणीः) तेरी पसुलियोंमें प्रवेश करती हैं वे (अना०) सब दोषरहित और अमारक होकर द्रवरूपसे रोमरन्ध्रोंके द्वारा शरीरके बाहर चले आवे ॥ १६ ॥

(याः गुदाः अनुसर्पन्ति) जो गुदातक फैलती हैं, और (आन्त्राणि मोहयन्ति च) आंतोंको रोकती हैं वे सब पीडाएं (अना०) दोषरहित और अमारक होकर द्रवरूपसे शरीरके रोमरन्ध्रोंसे बाहर चली जावें ॥ १७ ॥

[याः मज्ज्ञः निर्धयन्ति] जो मज्जाओंको रक्तहीन करती हैं, और [परूंषि विरुजन्ति च] जोडोंमें वेदना उत्पन्न करती हैं, वे सब रोग [अना०] दोषरहित और अमारक होकर रन्ध्रोंसे बाहर द्रवरूप होकर निकल जावें ॥ १८ ॥

[ये यक्ष्मासः] जो यक्ष्मरोग [रोपणाः] व्याकुल करते हुए [तव अंगानि मदयन्ति] तेरे अंगोंको मदयुक्त करते हैं उन [सर्वेषां यक्ष्माणां विषं] सब यक्ष्मरोगोंका विष [अहं त्वत् निरवोचं] मैं तेरेसे हटाता हूं ॥ १९ ॥

(विसल्पस्य) पीडा, (विद्रधस्य) सूजन, (वातीकारस्य) वातरोग और (वा अलजेः) रोग इन सबके तथा (सर्वेषां यक्ष्मणां विषं०) संपूर्ण रोगोंके विषको मैं तेरेसे हटाता हूं ॥ २० ॥

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि मंससः ।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् ॥ २१ ॥
सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः ॥ २२ ॥ (२३)
॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (पादाभ्यां ते जानुभ्यां) तेरे पांवोंसे और जानुओंसे, (श्रोणिभ्यां मंससः परि) कुल्होंसे और गुह्यभागसे (अनूकात् उष्णिहाभ्यः) रीढसे और गुदेकी नाडियोंसे (अर्षणीः) फैलनेवाली पीडाओंको और (शीर्ष्णः रोगं) सिरकी पीडाको मैं (अनीनशम्) नाश करता हूं ॥ २१ ॥

(ते शीर्ष्णः कपालानि) तेरे सिरके कपालभाग, (हृदयस्य च यः विधुः) और हृदय की जो व्याधि है, (उद्यन् आदित्यः रश्मिभिः) उगता हुआ सूर्य अपनी किरणोंसे (शीर्ष्णः रोगं सं अनीनशः) सिरके रोगको नाश करता है और (अंगभेदं अशीशमः) अंगोंकी पीडाको शांत करता है ॥ २२ ॥

सिरदर्द ।

इस सूक्तमें सिरदर्द को हटानेके लिये सूर्यकिरण यह एक उपाय है, यह बात कही है । सूर्यकिरण शरीरपर लेनेसे सिरका रोग, कर्णके रोग, पाण्डुरोग तथा अन्यान्य कई रोग दूर होते हैं । संभव है कि ये सूर्य किरण विशेष प्रबंधसे उस रोगग्रस्त स्थानपरभी लेने योग्य होंगे । इस सूक्तमें यह चिकित्साकी विधि तो बतायी नहीं है, परंतु इतना कहा है कि सूर्यकिरणसे इस सूक्त में कहे अनेक रोग दूर होते हैं ।

कई सिरके रोग दृष्टीको मन्द करते हैं,अंधा बनाते हैं,बहिरा बनाते हैं, रक्त कम होनेसे कई सिरके रोग होते हैं, आंखोंके दोषसे भी सिरकी पीडा होती है, कानसे और मुखसे पीप आदि बाहर निकलता रहता है जिससे सिरदर्द होता है, इस प्रकार अनेक लक्षण और हेतु सिरदर्दके इस सूक्तमें दिये हैं । इन सबका विचार वैद्य डाक्तर करें और सूर्यकिरणोंका उपाय इन सबपर किस प्रकार करना चाहिए इसका भी निश्चय करें ।

अथवा कोई अन्य उपाय यहां लक्षणासे बताया है, इसका भी निश्चय होना उचित है । यह सूक्त वस्तुतः अति सुबोध है, तथापि सिरदर्दका विषय अति शास्त्रीय होनेसे इस सूक्तके कई शब्द वैद्य और डाक्तर ही जान सकते हैं । इसलिए ऐसे सूक्तोंका अन्वेषण करना उनका ही कार्य है ऐसी सूचना हम यहां करते हैं ।

एक वृक्षपर दो सुपर्ण।

(९)

(ऋषिः- ब्रह्मा। देवता-वामः, अध्यात्मं, आदित्यः,)

[१४](९)

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ १ ॥
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ २ ॥
इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा ॥ ३ ॥

अर्थ- (अस्य अस्य वामस्य पलितस्य) उस इस सुंदर जात वृद्ध (होतुः) दान करनेका (मध्यमः भ्राता) बीचका भाई (अश्नः अस्ति) खानेवाला है। (अस्य तृतीयः भ्राता) इसका तीसरा भाई अपने (घृतपृष्ठः) पृष्ठभागपर पुष्टिकारक घी रखता है। (अत्र) यहीं मैंने (सप्तपुत्र विश्पतिं अपश्यं) सात पुत्रोंवाले प्रजापालकको देखा है ॥ १ ॥ (ऋ० १। १६४। १)

(एकचक्रं रथं सप्त युंजन्ति) एक चक्रवाले रथको सात घोडे जोते जाते हैं, (सप्तनामा एकः अश्वः वहति) सात नामवाला एक घोडा उसको खींचता है। इसका(त्रिनाभि अजरं अनर्वं चक्रं) तीन केन्द्रोंवाला जरारहित और नाशरहित यह चक्र है [यत्र] जिसमें [इमा विश्वा भुवना] ये सब भुवन [अधि तस्थुः] ठहरे हैं ॥ २ ॥ (ऋ० १। १६४। २ अथर्व १३। ३। १८)

(इमं सप्तचक्रं रथं) इस सात चक्रोंवाले रथके ऊपर (ये सप्त अधि तस्थुः) जो सात रहते हैं, उसको (सप्त अश्वाः वहन्ति) सात घोडे खींचते हैं। (सप्त स्वसारः) सात बहिनें (अभि सं नवन्ते) जिसके साथ रहती हैं। (यत्र) और जहां (गवां सप्त नामा निहिता) गौओंके सात यश रहते हैं ॥ ३ ॥ [ऋ० १। १६४। ३]

भावार्थ— इस अलौकिक सुंदर दाता पुराण पुरुषका बीचका भाई भोक्ता जीवात्मा है, और इसको एक तीसरा भाई भी है जो अपनी पीठपर घृतादि पोषक पदार्थ धारण करता है, यही संसार है। इसी स्थानपर सब प्रजाओंका पालनेहारा एक देव है, जिसको सात पुत्र हैं ॥ १ ॥

इस एकचक्रवाले रथको सात घोडे जोते हैं, परंतु वस्तुतः सात नामोंवाला एकही घोडा इस रथको खींचता है। इसी तीन केन्द्रोंवाले जरारहित अविनाशी चक्रमें ये संपूर्ण भुवन रहे हैं ॥ २ ॥

इन सातचक्रोंसे युक्त रथके ऊपर सात वीर खडे हैं, इस रथको सात घोडे खींच रहे हैं। इस रथपर सात बहिनें भी उनके साथ वहीं हैं, जहां गौओंके साथ उनके सात यश भी विराजमान हैं ॥ ३ ॥

*

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥ ४ ॥
इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुहते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ ५ ॥
पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥ ६ ॥
अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्वनो न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥ ७ ॥

अर्थ- [प्रथमं जायमानं] पहिले प्रकट होनेवालेको [कः ददर्श] किसने देखा है ? [यत् अनस्था अस्थन्वन्तं बिभर्ति] जो हड्डीरहित हड्डीवालेको धारण करता है । (भूम्याः असुः असृक् आत्मा क्व स्वित्) इस मिट्टीके अन्दर प्राण रक्त और आत्मा कहां भला रहते हैं? [कः विद्वांसं] कौनसा मनुष्य किस ज्ञानीके पास [एतत् प्रष्टुं उपगात्] यह पूछनेके लिए गया ? ४ ॥ [ऋ० १ । १६४ । ४]

हे [अंग] प्रिय मनुष्य ! [यः अस्य वामस्य वेः] जो इस प्रिय सुपर्णके [निहित पदं वेद] रखे हुए पदको जानता है, वह आकर [इह ब्रवीतु] यहां कहे । [गावः अस्य शीर्ष्णः] गौवें, किरणें, इसके शिरोभागसे [क्षीरं दुहते] दूध, अमृत दुहती हैं, वे [वव्रिं वसानाः] रूपका धारण करती हुई [पदा उदकं अपुः] अपने पदसे जलका पान करती हैं ॥५॥ [ऋ० १।१६४ । ७]

(पाकः) परिपक्व होनेवाला और (मनसा अविजानन्) मनसे न जाननेवाला मैं (देवानां एना निहिता पदानि) देवताओंके ये रखे हुए पदोंके विषयमें (पृच्छामि) पूछता हूं । (कवयः) कवि लोगोंने (बष्कये वत्से अधि) बड़े बछड़ेके ऊपर (ओतवै उ) बुननेके लिए (सप्त तन्तून् वि तत्निरे) सात तन्तुओंको फैलाया है ॥ ६ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ५)

(अचिकित्वान्, न विद्वान् चित्) अज्ञानी और विद्या न जाननेवाला मैं (चिकितुषः विद्वनः कवीन् चित्) ज्ञानी विद्वान् कवियोंसे ही (पृच्छामि) पूछता हूं । (यः इमाः षट् रजांसि तस्तंभ) जो इन छः लोकोंको आधार देता है, उस (अजस्य रूपे) अजन्माके रूपमें (किं अपि एकं स्वित्) एक कौनसा तत्व है ? ॥ ७ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ६)

भावार्थ- सबसे प्रथम प्रकट होनेके समय इस आत्माको किसने देखा है ? यहां तो हड्डीवाले शरीरको हड्डीरहित आत्मा धारण करता है । इस पार्थिव शरीरमें प्राण, रक्त और आत्मा—मन—कहां रहता है ? मनुष्य किस विद्वान को इसके विषयमें पूछने के लिए जाता है ? ॥ ४ ॥

हे प्रिय शिष्य ! जो इस परम रमणीय सुपर्ण—आत्माका परम पद यथावत् जानता है, वही इस विषयमें उपदेश करे । इसी आत्माके मुख्य भागसे संपूर्ण गौवोंमें अमृत जैसा दूध आता है, उन गौवोंमें जलपान करके लोगोंको सुंदर रूप और रस देनेका सामर्थ्य है ॥ ५ ॥

हे गुरुजी! मैं परिपक्व नहीं हूं और मनसे भी कुछ जानता नहीं हूं । इसलिए आपसे देवोंके रखे हुए पदोंके विषयमें पूछता हूं। आप इस विषयमें कहिए । कवि लोग जो सात धागे वस्त्र बुननेके लिये बछड़ेके ऊपर फैलाते हैं, उसका क्या आशय है?॥६॥

मैं अज्ञानी और निर्बुद्धसा हूं, अतः आप जैसे ज्ञानी और सुबुद्धसे प्रश्न कर रहा हूं । जिसने ये छः लोक धारण किए हैं, उस अजन्मा आत्माका एक सत्य स्वरूप कौनसा है? ॥ ७ ॥

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा बिभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥ ८ ॥
युक्ता मासासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥
तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्वाम् ॥ १० ॥ (२४)
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न छिद्यते सनाभिः ॥ ११ ॥

अर्थ— (माता पितरं ऋते अबभाज) माता बालकके पिताको अर्थात अपने पतिको सत्यधर्ममें भाग देती है। (अग्रे धीती) प्रारंभमें बुद्धिसे और (मनसा) मनसे वह (हि सं जग्मे) निश्चयपूर्वक संगति करती है। (सा बीभत्सुः गर्भरसा निविद्धा) वह भरण करनेवाली अपने बीच रस धारण करनेवाली विद्ध हुई है। जो (नमस्वन्तः इत् उपवाकं ईयुः) नमस्कार करनेवाले भक्त निश्चयसे उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ ८ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ८)

(दक्षिणायाः धुरि माता युक्ता आसीत्) दक्षिणाकी धुरामें माता जोती गई थी, तथा उसका (गर्भः वृजनीषु अन्तः अतिष्ठत्) बछडा अपनी शक्तियोंमें था। (वत्सः गां अनु अमीमेत्) बछडा गौको देखकर जाता है और (त्रिषु योजनेषु) तीनों योजनाओंमें (विश्वरूप्यं अपश्यत्) संपूर्ण रूपोंको देखता है ॥ ९ ॥ [ऋ० १ । १६४ । ९]

(एकः तिस्रः मातॄः) अकेला तीन माताओंको और (त्रीन् पितॄन्) तीन पिताओंको (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (ऊर्ध्वः तस्थौ) सीधा खडा है। वे इसको (न इं अव ग्लापयन्त) ग्लानीको प्राप्त नहीं होने देते। (अमुष्य दिवः पृष्ठे) उस द्युलोकके पीठपर विराजमान होकर (विश्वविदः) सर्वज्ञ लोग (अ-विन्व-विन्वां वाचं मन्त्रयन्ते) सबको न समझनेवाले गूढ वचनका मनन करते हैं ॥ १० ॥ (ऋ० १ । १६४ । १०)

(यस्मिन् परिवर्तमाने पञ्चारे चक्रे) जिस घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें (विश्वा भुवनानि आतस्थुः) सब भुवन ठहरे हैं। (तस्य भूरिभारः अक्षः न तप्यते) उस चक्रका बहुत भारवाला अक्षदण्ड नहीं तपता और (सनात् एव सनाभिः न छिद्यते) चिरकालसे केन्द्रस्थान होनेपर भी नहीं छिन्नभिन्न होता है ॥ ११ ॥ (ऋ० १ । १६४ । ११)

भावार्थ- माता प्रकृति परमात्मारूपी पिताको सत्यधर्मका भाग समर्पण करती है, अर्थात सत्यधर्म उसीका है ऐसा दर्शाती है। सबसे पहिले बुद्धि, कर्म और विचारशक्तिका संगतीकरण हो गया, जिससे इसकी रचना होगयी है। यह प्रकृति सबका पोषण करनेमें समर्थ है, इसीमें सब प्रकारके उत्तम पोषक रस हैं। जो भक्त नमस्कारपूर्वक इसकी भक्ति करते हैं, वे निश्चय पूर्वक इनकी प्रशंसा करने लगते हैं ॥ ८ ॥

माता इस यज्ञरूप रथमें प्रमुख स्थानमें जोती गई है। उसके गर्भका धारण अनेक शक्तियोंसे होता है। जब वह जन्मते है, तो गौके पीछे पीछे चलता है। और बढकर पूर्वोक्त तीन केन्द्रोंमें सब विश्वका रूप ठहरा है, इस बातको देखता है ॥ ९ ॥

अकेला एक अपनी तीनों माताओं और तीनों पिताओंका धारण करता हुआ सीधा खडा रहता है। इसको कोई ग्लानि नहीं उत्पन्न कर सकता। अन्तमें इसको इस बातका ज्ञान होता है कि द्युलोकके ऊपर सर्वज्ञ लोग गुप्त मंत्रोंका विचार करते हैं ॥ १० ॥

जिस घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें संपूर्ण भुवन ठहरे हैं, उसका बहुत भारवाला अक्षदण्ड सतत घूमता हुआ भी नहीं तपता और चिरकालसे चक्रकी नाभिमें घूमता हुआ भी नहीं टूटता है ॥ ११ ॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥ १२ ॥
द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥ १३ ॥
सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १४ ॥
स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥ १५ ॥

अर्थ- (पञ्चपादं द्वादशाकृतिं पितरं) पांच पांववाला बारह आकारवाला पिता (दिवः परे अर्धे पुरीषिणं आहुः) द्युलोकके परले आधे भागमें है ऐसा कहते हैं । (अथ इमे अन्ये आहुः) द्युलोकके परले आधे भागमें है ऐसा कहते हैं । (अथ इमे अन्ये आहुः) और ये दूसरे कहते हैं कि वह (उपरे विचक्षणे) अति विलक्षण (सप्तचक्रे षडरे अर्पितं) सातचक्रोंवाले और छः आरोंवाले चक्रमें रहा है ॥ १२ ॥ (ऋ० १ । १६४ । १२)

(द्वादशारं तत् चक्रं) बारह आरोंवाला चक्र (नहि जराय) जीर्ण नहीं होता, वह (ऋतस्य द्यां परि वर्वर्ति) सत्यके द्युलोकके ऊपर घूमता है । हे (अग्ने) अग्ने ! (अत्र सप्त शतानि विंशतिः च) यहां सात सौ बीस (मिथुनासः पुत्राः आ तस्थुः) जुडे हुए पुत्र ठहरे हैं ॥ १३ (॥ ऋ० १ । १६४ । ११)

(सनेमि अजरं चक्रं) परिधवाला अविनाशी चक्र (वि—वावृते) विशेष रीतिसे घूम रहा है । (उत्तानायां दश युक्ताः वहन्ति) तनी हुई धुरामें दश जोडे हुए खींचते हैं । (सूर्यस्य रजसा आवृतं चक्षुः) सूर्यका रजसे व्याप्त हुआ नेत्र (एति) चलता है [यस्मिन् विश्वा भुवना आतस्थुः) जिसमें सब भुवन रहे हैं ॥ १४ ॥ [ऋ० १ । १६४ । १४]

(स्त्रियः सतीः) वे स्त्रियां होनेपर भी [तान् उ मे पुंसः आहुः] उनको मुझे पुरुष हैं ऐसा कहा । यह बात [अक्षण्वान् पश्यत्] आँखवाला देखता है, परंतु (अन्धः न विचेतत्) अन्धा उसको नहीं जानता । [यः कविः पुत्रः) जो पुत्र कवि है (सः ईं आ चिकेत) वह भली प्रकार इसको जानता है, (यः ताः विजानात्)जो उनको जानता है (सः पितुः पिता असत्) वह पिताका भी पिता होता है ॥ १५ ॥ (ऋ० १ । १६४ । १६)

भावार्थ- पिताको पांच पांव हैं,उसके बारह रूप हैं,और वह द्युलोकके परले आधे भागमें रहता है,ऐसा एक प्रकारके लोग उसका वर्णन करते हैं; परंतु कई दूसरे ज्ञानी उसीका ऐसा वर्णन करते हैं कि वह अतिविलक्षण छः आरोंवाले सात चक्रोंमें रहता है ॥ १२ ॥

बारह आरोंवाला वह चक्र कभी क्षीण नहीं होता है, वह सत्यमय द्युलोक में बारंबार घूमता है । इसमें सातसौ बीस जुडे भाई उसके पुत्र विराजमान हैं ॥ १३ ॥

यह परिधवाला नाशरहित चक्र बारंबार घूमता है । इस रथकी तनी हुई महती धुरामें दस घोडे इस रथको खींचते हैं । जिससे संपूर्ण भुवन ठहरे हैं; वह सूर्यका चक्षु रजसे व्याप्त है ॥ १४ ॥

वस्तुतः स्त्रियां होनेपर भी उनको पुरुष कहते हैं । क्योंकि जिसके आंख अच्छे होंगे वही देख सकता है, अन्धेको यह नहीं दीखता । इनमेंसे जो कवि होगा वही सत्य बातको जान सकेगा, और जो जानता है वही पिताका भी पिता बन जाता है ॥ १५ ॥

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥ १६ ॥
अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्वस्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥ १७ ॥
अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥ १८ ॥
ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥ १९ ॥

अर्थ-(साकंजानां सप्तथं एकजं आहुः) साथ जन्मे हुओंमें सातवां एक ही बना है ऐसा कहते हैं। (षट् इत् यमाः) जो छः नियमसे जुडे हैं, वे (देवजाः ऋषयः इति) देवोंसे उत्पन्न ऋषि हैं। (तेषां धामशः) उनके लिए स्थानसे (इष्टानि विहितानि) इष्ट बातें बनाई हैं। [स्थात्रे रूपशः विकृतानि रेजन्ते] ठहरनेवाले एकके लिए आकारसे विकृत होकर कांपते हैं ॥ १६ ॥ [ऋ० १ । १६४ । १५]

[एना गौः] यह गाय [अवः परेण] निम्न स्थानके दूरके पदसे और [परः अवरेण] परलेको पासवाले [पदा] पदसे [वत्सं बिभ्रती] बछडेका धारण करती हुई [उत् अस्थात्] ऊपर उठती है। [सा कद्रीची] वह कहांसे आती है और [कं स्वित् अर्धं परा अगात्] किस अर्ध भागके पास जाती है ? वह [क स्वित् सूते] कहां प्रसूत होती है ? [अस्मिन् यूथे न] इस संघमें तो नहीं होती ॥ १७ ॥ [ऋ० १ । १६४ । १७]

[परेण अवः अस्य पितरं] ऊपरसे नीचे तक इसके पिताको [यः वेद] जो जानता है तथा [परेण अवः एना अवरेण परः] दूरसे नीचेतक इसको नीचेसे उपरतक जो जानता है, [कवीयमानः कः इह प्रवोचत्] कविके समान आचरण करनेवाला कौन यहां कहेगा ? [देवं मनः कुतः अधिजातं] दैवी शक्तिसे युक्त मन कहांसे प्रकट हुआ है ? ॥ १८ ॥ [ऋ० १।१६४।१८]

[ये अर्वाञ्चः] जो यहांके हैं [तान् उ पराचः आहुः] उनको दूरके कहा जाता है तथा [ये पराञ्चः तान् उ] जो दूरके हैं उनको [अर्वाचः आहुः] समीपके करके कहा जाता है। हे [सोम] सोम ! तू और [इन्द्रः च] इन्द्र [या चक्रथुः] जिनकी रचना करते हैं, [तानि] उनको [धुरा युक्ता न] धुराको जोडे हुओंके समान [रजसः वहन्ति] लोकोंमें खींचते हैं ॥ १९ ॥ [ऋ० १ । १६४ । १९]

भावार्थ- एक साथ सात उत्पन्न हुए हैं, उनमें एक ऐसा है कि जो अकेला जन्मा है। इनमें छः जुडे हैं, उनको देवताओंसे उत्पन्न ऋषि कहा जाता है। उनका स्थानस्थानसे इष्ट करना योग्य है। एक जो सदा रहनेवाला है उसके लिए आकारसे बनाये विविध पदार्थ रूप उत्पन्न करते हैं ॥ १६ ॥

यह गौ अपने दूरके पदसे पासवाले और पासके पदसे दूरवाले बछेको धारण पोषण करती है। यह कहांसे आगई, किस आधे भागसे पास पहुंचती है, कहां प्रसूत होती है, इसको जानना चाहिए। यह इस संघमें तो नहीं रहती ॥ १७ ॥

दूरसे पास तक इसके पिताको जो जानता है वह सबको नीचेसे ऊपर तक और ऊपरसे नीचे तक जानता है। कौन कवि इसको जानकर यहां आकर कहेगा ? हमारा दैवी शक्तिसे युक्त मन कहांसे प्रकट हुआ है ? ॥ १८ ॥

जो यहांके होते हैं, इनको दूरके हैं ऐसा कहते हैं, और जो दूरके होते हैं उनको समीपके हैं ऐसा मानते हैं। सोम और इन्द्र यहांकी सब रचना करते हैं, ये सब इस विश्वकी धुरामें जुडे जाकर संपूर्ण लोकोंको चलाते हैं ॥ १९ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ २० ॥
यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोशद्यः पितरं न वेद ॥ २१ ॥
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥ २२ ॥ (२५)

अर्थ— (द्वा सुपर्णा) दो उत्तम पंखवाले पक्षी हैं, वे (सयुजा सखाया) साथ रहनेवाले मित्र हैं, वे (समानं वृक्षं परिषस्वजाते) एक ही वृक्षपर मिलकर रहते हैं। (तयोः अन्यः) उनमेंसे एक (स्वादु पिप्पलं अत्ति) मीठा फल खाता है, (अन्यः अनश्नन्) दूसरा न खाता हुआ (अभि चाकशीति) चमकता है ॥ २० ॥ ऋ० १ । १६४ । २०)

(यस्मिन् वृक्षे) जिस वृक्षपर (मध्वदः सुपर्णाः) मधुर रस खानेवाले पक्षी (निविशन्ते) निवास करते हैं, और (विश्वे अधि सुवते) सब संतान उत्पन्न करते हैं, (तस्य यत् अग्रे स्वादु पिप्पलं आहुः) उसका जो प्रारंभमें मीठा फल है ऐसा कहते हैं, (तत् न उत् नशत्) वह उसको नहीं मिलता, (यः पितरं न वेद) जो पिताको नहीं जानता ॥२१॥ (ऋ० १।१६४।२२)

(सुपर्णाः) ये पक्षी (यत्र अमृतस्य भक्षं) जहां अमृतका अन्न (विदथाभिः अनिमेषं अभिस्वरन्ति) ज्ञानपूर्वक विश्राम न लेते हुए एकस्वरसे प्राप्त करते हैं, (एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः) वह सब भुवनोंका रक्षक (सः धीरः) वह धैर्यशाली (अत्र मा पाकं आविवेश) यहां मुझ परिपक्व होनेवाले में प्रविष्ट होता है ॥ २२ ॥ (ऋ० १६४ । २१)

भावार्थ— दो आत्मा हैं, वे साथ रहनेवाले परस्परके परम मित्र हैं। ये दोनों संसाररूपी वृक्षपर मिल जुलकर रहते हैं। उनमेंसे एक इस संसारवृक्षका मीठा फल खाता है और दूसरा न भोग करता हुआ केवल चमकता रहता है ॥ २० ॥

इस संसाररूपी वृक्षपर मीठा फल खानेवाले अनंत आत्मारूपी पक्षी निवास करते हैं। ये सब यहां संतान उत्पन्न करते हैं। इनमेंसे जो अपने पिताको नहीं जानता उसके सामनेका मीठा फल भी उसको नहीं मिलता ॥ २१ ॥

ये सब आत्मारूपी अनंत पक्षी अमृतका फल खानेकी इच्छासे विश्राम न लेते हुए ज्ञानपूर्वक पुकारते हैं। संपूर्ण भुवनोंका रक्षक वह धैर्यशाली परमात्मा इस जगत्में मुझ जैसे अपरिपक्वमें अर्थात् प्रत्येक प्राणीमें प्रविष्ट हुआ है ॥ २२ ॥

जीवात्मा, परमात्मा और संसार।

इस सूक्तमें अध्यात्मविद्याका उत्तम विचार हुआ है। ऋग्वेदमें (१ । १६४ स्थानपर) यही सूक्त है। वहां इस सूक्तके ५२ मंत्र हैं, इस ऋग्वेदके एक ही सूक्त के दो भाग करके इस अथर्ववेद कां० ९ के नवम और दशम ये दो सूक्त बने हैं। नवम सूक्तके २२ मंत्र हैं और दशम सूक्तके २८ मंत्र हैं। ये दोनों सूक्तोंके मिलकर ५० मंत्र होते हैं। पूर्वोक्त ऋग्वेद १ । १६४ के ५२ मंत्र हैं। कुछ पाठभेद, मंत्रक्रम भेद और मंत्रोंकी न्यूनाधिकता भी है। तथापि सर्वसाधारण रीतिसे ऐसा कह सकते हैं कि, इस ऋग्वेद सूक्तके ये अथर्ववेदके दो सूक्त बने हैं। अथर्ववेदमें ऋग्वेदके कई सूक्त हैं, उनमें यह भी एक सूक्त है।

ऋग्वेदके इस सूक्तके पहिले २२ मंत्र कुछ थोडे क्रमभेदसे यहां हैं। और अगले मंत्रोंका अगला सूक्त बना है।

इस सूक्तमें जीवात्मा, परमात्मा, और संसारवृक्षका उत्तम वर्णन है। वेदका जो उत्तम विषय है वह यही है। जो ब्रह्मविद्या और आत्मविद्या कही गई है वह ऐसे ही सूक्तोंमें कही है। यह गुप्तविद्या है, इसीलिए व्यंग्य शब्दोंकी योजना द्वारा यह अध्यात्मविद्या यहां कही है, स्पष्ट शब्दोंसे नहीं कही है। इसी कारण मंत्रोंके शब्दोंसे स्पष्ट बोध नहीं होता, परंतु सूक्ष्म विचार करने

पर ही बोध होने लगता है । इस सूक्तका विचार करनेके लिए अन्तिम मंत्रोंका विचार सबसे प्रथम करना चाहिए; इसका कारण यह है कि इन तीन मंत्रोंमें वक्तव्य बात अधिक स्पष्ट शब्दोंद्वारा व्यक्त की गई है । इसलिए इन तीन मंत्रोंका विचार हम यहां पर प्रथम करते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । (मं० २०)

इस मंत्रभागका व्यक्त अर्थ यह है कि " दो उत्तम पंखवाले पक्षी साथ साथ रहनेवाले परस्परके मित्र हैं और वे दोनों एक ही वृक्षपर एक दूसरेको आलिंगन देकर रहते हैं। " यहां जिन पक्षियोंका वर्णन है वे केवल दो ही नहीं हैं, परंतु अगले ही मंत्रमें कहा है कि (मध्वदः सुपर्णाः) मीठे फलका भोग करनेवाले पक्षी बहुत हैं, असंख्य हैं, अनंत हैं। यहां (मधु-अदः) मीठे फलका भोग करनेवाले पक्षी अनंत हैं ऐसा कहा है, परंतु दूसरा पक्षी मीठा फल खानेका इच्छुक नहीं है और जो केवल इसका हमेशाका साथी है, वह (अभिचाकशीति) प्रकाशता तो है, परंतु (अन्—अश्नन्) भोग नहीं करता। यह पक्षी एक ही है । इस संपूर्ण वृक्षपर भोग करनेवाले पक्षी अनंत हैं परंतु भोग न करनेवाला पक्षी एक ही है, तथापि यह एक होता हुआ भी, सब अन्य भोगी पक्षियोंको ऐसा प्रतीत होता है कि यह हमारा (सयुज् सखा) साथी मित्र है । यह पक्षी एक होते हुए भी सबके साथ रहता और सबका प्यारा मित्र बना रहता है, यह बात कैसी बनती है, यह विचार करके ही समझ लेना चाहिये।

यह वृक्ष ' संसार वृक्ष ' ही है । इस संसार वृक्षपर बहुत फल लगते हैं, कई फल पकते हैं और कई कच्चे भी रहते हैं। इसी संसारवृक्षपर एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक होकर रहता है, इस संसारवृक्षकी हरएक शाखापर वह विराजमान है । वह संसारवृक्षका एक भी फल नहीं खाता, परंतु अपने निज तेजसे चमकता रहता है, क्योंकि इसके समान किसीका भी तेज नहीं है ।

इसी संसारवृक्षपर सदा मीठे फल खानेकी इच्छा करनेवाले अनंत जीवात्मा रहते हैं, इनके विषयमें ऐसा वर्णन है—

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते
सुवते चाधि विश्वे ॥ (मं २१)

" इस संसारवृक्षपर मीठा फल खानेवाले अनंत पक्षी निवास करते हैं यहां अपनी संतानवृद्धि करते हैं और सब इस वृक्षपर ही रहते हैं । " ये पक्षी निःसंदेह जीवात्मा ही हैं । क्योंकि यही जीवात्मा वारंवार जन्म लेता है, सुखभोगकी लालसा धारण करता है, संसारमें रहता है और संतान उत्पन्न करता है । यही जीवात्मा—

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्यो अभि चाकशीति । (मं० २०)

" उनमेंसे एक मीठा फल खाता है, परंतु दूसरा फलभोग न करता हुआ केवल प्रकाशता है । " मीठा फल खानेवाला जीव आत्मा है और फलभोग न करनेवाला परमात्मा है । उसका वर्णन वेदमें अन्यत्र इस तरह आगया है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ अथर्व. १० । ८ । ४४

" भोगकी कामनारहित, धैर्यवान्, अमर, स्वयंभु, रससे तृप्त, कहीं भी न्यून नहीं, जरारहित तरुण इस परम आत्माके जानकर ही मृत्युका भय दूर होता है । " यह परमात्मा ' अकाम ' होनेके कारण फल भोग नहीं करता और इसका मित्र जीवात्मा सकाम होनेके कारण सदा मीठे फल खानेकी इच्छा करता है । तथापि इसको सदा मीठे फल मिलते ही हैं ऐसा कोई नियम नहीं । यह जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार उसको मीठे या कडुवे फल मिलते रहते हैं और जो मिलते हैं उनका भोग वह करता रहता है ।

जीवात्मा और परमात्मा 'स-युज्' अर्थात् एक दूसरेके साथ लगे हैं, इनके मध्यमें कोई स्थानका अन्तर नहीं है । जिस स्थानमें एक है उसी स्थानमें उसके साथ दूसरा है । जीवात्मा (मध्वदः सुपर्णाः) मीठा भोग करनेवाले ये जीव अनंत हैं, अनंत होनेके कारण इनका आकार अणु है, अर्थात् ये छोटे छोटे परिच्छिन्न हैं । परंतु परमात्मा प्रत्येकके साथ समानतया होनेके कारण विभु (न कुतश्चन ऊनः) सर्वत्र व्यापक और कहींभी न्यून नहीं ऐसा है । यह परमात्मा हरएकमें व्यापक है, देखिये इसका वर्णन—

एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश । (मं० २२)

" यह संपूर्ण भुवनोंका रक्षक धैर्यशाली परमात्मा यहां मुझ जैसे अपरिपक्व जीवमें भी प्रविष्ट हुआ है । " जैसा मुझमें है वैसा ही सबमें है । सर्वव्यापक होनेसे ही वह सबके साथ मिला जुला रह सकता है । इस तरह यह परमात्मा एक सर्वव्यापक और सर्वत्र परिपूर्ण है, और जीवात्मा अनेक परिच्छिन्न, अपूर्ण और भोगी हैं । अतः इनकी सदा इच्छा रहती है कि-

सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति । [मं० २२]

" ये जीवात्मा अमृतका अन्न सदा प्राप्त करनेके लिये पुकारते रहते हैं । " यदि इन जीवात्माओंकी कोई पुकार है तो ' अमृत चाहिये ' यही एक पुकार है, मुझे ऐसा अन्नभोग चाहिये कि जिससे मैं नीरोग होकर अमर बनूं सदा यही पुकार प्रत्येककी है । पाठक इस जगत्में देखेंगे तो प्रत्येक जीवकी यही पुकार है, यह बात प्रत्यक्ष हो जायगी । प्रत्येक मनुष्यकी अथवा प्रत्येक प्राणीकी यह पुकार है और उसका प्रयत्न भी इसीलिये हो रहा है । मुझे सदा टिकनेवाला सुख मिल जावे, इसलिये प्रयत्न होता है । सुखकी इसको इच्छा है और दुःखकी अनिच्छा है, परंतु दुःख मिलता है और सुख दूर होता है, इससे भी स्पष्ट होता है कि इसकी नियामक शक्ति कोई दूसरी है ।

यह जीवात्मा परमात्माके साथ रहता है, उसके पास है, अत्यंत समीप है, जीवात्मा परमात्मा (परिषस्वजाते) आलिंगन देनेके समान रहते हैं अथवा इससे भी और (आविवेश) जीवात्मामें परमात्मा है, इतनी इसकी समीपता होनेपर भी यह जीवात्मा परमात्माको जानता है ऐसी बात नहीं है । और परमात्माको अपने परम पिताको न जाननेके कारण इसका सुख दूर हो जाता है, इसी उद्देश्यसे यह बात कही है-

तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशथः पितरं न वेद । (मं० २१)

" जो अपने पिताको नहीं जानता उसके पास भी मीठा फल हुआ तो भी वह उसके लिये नष्ट हो जाता है । " हरएकके पास मीठा फल होता है, परंतु वह उसको प्राप्त होता है कि जो अपने पिताको जानता है । जो नहीं जानता उसको फल पास होनेपर भी भोगनेको नहीं प्राप्त होता । जीवात्मा और परमात्मा इतने संनिध होनेपर भी और परमात्मा इतना हितकर्ता समर्थ मित्र बिलकुल साथ रहनेपर भी, यह जीव उस परम पिताको नहीं जानता और दुःख भोगता रहता है, इससे और शोककी बात कौनसी हो सकती है ? जीवात्मा परमात्माको जान सकता है और जानकर परम सुख भी निश्चयपूर्वक प्राप्त कर सकता है, परंतु हाय ! कितने जीवात्मा ऐसे हैं कि जो इस ज्ञानको प्राप्त करनेका यत्न तक नहीं करते और दुःख भोगते हुए संतप्त होते हैं । यह मनुष्य इतने समीप स्थितको नहीं जानता, परंतु इस सृष्टिमें दूरस्थित पदार्थोंको जाननेका यत्न करता है, ऐसी विपरीत इसकी बुद्धि है, देखिये—

" ये अर्वाञ्चस्तां उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्तां उ अर्वाच आहुः । (मं० १९)

"जो पासके हैं वे इसको दूरके प्रतीत होते हैं और जो दूरके हैं वे ही इसको समीप हैं ऐसा प्रतीत होता है ।" यही मिथ्या ज्ञान इसके दुःखका कारण है । परमात्मा इतना समीपसे समीप होनेपर भी वह इसको अतिदूर प्रतीत होता है और जगत्के भोग अतिदूर होनेपर भी इसको समीप प्रतीत होते हैं । इसलिये यह परमात्माको जाननेका यत्न नहीं करता और जागतिक भोग प्राप्त करनेमें दत्तचित्त होता है । परंतु इससे यह होता है कि अपने पिताको न जाननेके कारण इसको किसी प्रकारका सुख प्राप्त नहीं होता और वारंवार दुःखके भंवरमें पडता है । इसलिये-

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण । (मं० १८)

"अपना पिता ऊपरसे नीचे तक है ऐसा जो जानता है" वही निःसंदेह सुखका भागी हो सकता है । परमपिता परमात्माकी शक्ति विशाल है, वह अपना साथी और सत्य मित्र है वह मेरा साथी है, सदा हितकर्ता है, वह मेरे अन्दर है, वह निष्काम, अकाम और सदा तृप्त होता हुआ भी मेरे अन्दर है, यह बात जो जानता है वही सच्चे सुखका भागी है । इस परमपिताका ज्ञान प्राप्त होनेके लिये अपना मन दिव्य शक्तिसे युक्त अथवा पवित्र होना चाहिये । यह मन-

दैवं मनः कुतो अधिप्रजातम् ? (मं० १८)

" यह मन किस तरह दिव्य बनता है ? " राक्षसी मन तो हरएकका बन सकता है । विशेष स्वार्थसे तो मनमें राक्षसी

वृत्ति आसकती है, परंतु दिव्यभाव मनमें किस रीतिसे आसकते हैं, इसका विचार हरएक मनुष्यको करना चाहिये । क्योंकि मनुष्यका देव बनना अथवा राक्षस बनना यह केवल मनकी इस अवस्थापर सर्वथा निर्भर है, इस मनको देव बनाना किस तरह होगा इसका विचार-

कवीयमानः कः इह प्रवोचत् । (मं० १८)

"कौनसा श्रेष्ठ विद्वान् यहां आकर हमें कहेगा ?" ऐसी चिन्ता हरएकको करनी चाहिये । और जो विद्वान इस प्रकारका उपदेश करनेमें समर्थ होगा उसके पास आकर उससे इस विद्याका ग्रहण करना चाहिये, तथा उसका अनुष्ठान करके अपना मन सुसंस्कारोंसे दैवीगुणोंसे युक्त बनाना चाहिये । जिसका मन दिव्य गुणोंसे युक्त होता है और जिसके मनसे राक्षसी भाव सचमुच नष्ट हो जाते हैं, वही अपने पिताको अपने अन्दर प्रविष्ट देख सकते हैं। और परमसुखके भागी बना सकते हैं । इस प्रकार यहां गुरुकी तलाश करनेके लिये सूचना की है ।

इतने विवरणसे पाठकोंको पता चला होगा कि एक विभु परमात्मा, दूसरा परिच्छिन्न जीवात्मा और तीसरा यह संसार ये तीन पदार्थ यहां कहे हैं । इनमें जीवात्मा और परमात्मा आत्मा होनेसे एक जैसे हैं, परंतु तीसरा संसारवृक्ष जीवात्माको भोग देनेके कार्यमें उपयुक्त है । इन तीनोंका वर्णन इन सूक्तके प्रारंभिक मंत्रमें एक नये ही ढंगसे दिया है । देखिए-

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यो अस्त्यक्षः (मं० १)

" एक दाता सुन्दर पुराणपुरुष है और उसका बीचका भाई भोक्ता है " यहां दो पदार्थोंका वर्णन है। पहिला [पलित] अतिवृद्ध पुराण पुरुष है, इसको ' वृद्ध स्थविर पलित पुराण ' आदि नाम स्थानपर प्रयुक्त होते हैं तथापि यह ' युवा ' [अ० १० । ८ । १४४] भी है अर्थात् सबसे पूर्वकालसे वर्तमान होनेके कारण यह पुराण है, न कि पुराना जीर्ण होनेके कारण इसको कोई वृद्ध कहते है। यह परमात्मा सबसे पुराण होता हुआ भी तरुण है, अतएव इसको यहां 'वाम' अर्थात् सुन्दर,रमणीय कहा है। यह 'होता' अर्थात् सबको दानसे अनुग्रह करनेवाला है, सब जगत्के ऊपर इसका बडा अनुग्रह है उसीके अनुग्रहसे सब संसार चल रहा है। ऐसा और एक पुरुष है जिसको परमात्मा कहते हैं। यह सबसे वृद्ध अर्थात् बडा भाई है। इसका बीचका मझला भाई [मध्यमः भ्राता] एक है । वह [अक्षः] बडा खानेवाला है, भोग भोगनेवाला है, भोगके बिना रह नहीं सकता। बडा भाई तो भोग नहीं भोगता, वह विरक्त है, विरक्तिके कारण बलिष्ठ है और यह भोग भोगनेसे रोगोंसे ग्रस्त होकर निर्बल रहता है । इस प्रकार यहां इन दो भाइयोंका वर्णन किया है । ये ' द्वौ सुपर्णौ ' द्वारा वर्णित जीव और शिव ही हैं । इनका एक तीसरा भी भाई है, उसका वर्णन ऐसा होता है--

तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य । (मं० १)

" इसका एक तीसरा भाई है जो पीठपर घी लेकर रहता है । " इन तीनों भाइयोंमें बडा भाई तो कुछ भी खाता नहीं है, संभव है अतिवृद्ध होनेके कारण उसकी क्षुधा मंद हुई होगी, बीचका भाई तरुण होनेसे बहुत खाता रहता है, और जो यह तीसरा भाई है वह अपने पीठपर घी जैसें पौष्टिक पदार्थ अथवा रस धारण करता है और बीचके भाईको खिलाता रहता है । अन्नरस तैयार करनेका कार्य इस तीसरे भाईके आधीन है, ज्ञान, सुख तथा शान्ति प्रदान करना वृद्ध भाईके आधीन है और बीचका भाई इन दोनों भाइयोंकी सहायता लेता हुआ अपनी उन्नति करता रहता है । इस प्रकार यहां तीन भाइयोंका वर्णन है वह १८ वें मंत्रके वर्णनके साथ मिलता जुलता है ।

इसी वर्णन पर तीन तेजोंकी कल्पना करके यज्ञोंकी रचना की है। सूर्य द्युस्थानमें,विद्युत् अन्तरिक्षमें और अग्नि भूस्थानमें,ये तीन तेज हैं । सूर्य सबसे बडा भाई है [वाम] सुंदर भी है और [पलित] श्वेत किरणोंसे युक्त है । उसका मध्यम भाई विद्युत् तेज है यह बडा खानेवाला है, जहां बिजली गिरती है वहां उस चीजको वह खाती है, इनका एक सबसे छोटा भाई इस पृथ्वीपर अग्नि रूपसे है यह अपने पीठपर आहुतियोंसे डाला हुआ घी तथा हवन सामग्रीका भार लेकर खडा रहता है और अन्यान्य देवताओंको वह भाग देकर उनका पोषण करता है । इससे भाग लेकर अन्यान्य देवगण पुष्ट होते हैं । अग्नि यहां भूस्थानका प्रतिनिधि है । सब यज्ञोंकी उत्पत्ति इस विधानको दर्शानेके लिये हुई है । सूर्य प्रकाश देनेवाला, अग्नि पोषक घी

देनेवाला और इन दोनोंसे शक्तियां प्राप्त करके पुष्ट होनेवाला तीसरा मध्यम भाई है। यह वर्णन भी पूर्वोक्त जीवात्मा, परमात्मा और पोषक संसारका ही सूचक है। विद्युत्से मन और जीवात्माका भी वर्णन किया जाता है, क्षणमात्र चमकनेका धर्म इनमें समान है। जिस तरह विद्युत् एकक्षणमें चमकती है पूर्वक्षणमें नहीं होती और उत्तर क्षणमें भी नहीं होती, उसी प्रकार जीवभी जन्मसे मृत्युतक चमकता है और पूर्व तथा उत्तर कालमें छिपा रहता है। अस्तु। इस रीतिसे इस प्रथम मंत्रमें सूर्यादि तीन तेजोंके वर्णनके मिषसे जीवात्मा, परमात्मा और संसारका वर्णन किया है, सो पाठक देखें। इसी मंत्रमें और कहा है कि—

अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्। (मं० १)

" यहां सात पुत्रोंवाले प्रजापतिका मैंने दर्शन किया " पूर्वोक्त वर्णनमें विश्पति अर्थात् प्रजापतिका वर्णन है यह बात इस मंत्रसे स्पष्ट होती है। यहां विश्पति प्रजापति ये नाम सब जगत् के पालनेवालेके सूचक हैं। इसके सात पुत्र हैं, इसके सात पुत्र ये ही सात लोक हैं क्योंकि इसीने इनकी उत्पत्ति की है। यह उन सात लोकोंका पिता है और ये उसके पुत्र हैं। जो " वाम पलित " आदि नामोंसे प्रथम मंत्रमें वर्णित हुआ है, वही जगत्पालक सबका पिता और जेठा भाई परमेश्वर है। उसके भाई अथवा पुत्र सब जीव हैं और इन जीवोंको भोग देनेवाला यह सब संसार है। यह बात इस प्रथम मंत्र के मननसे स्पष्ट हो गई है। आगे कहा है कि—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्। एको अश्वो वहति सप्त नामा। (मं० २)

" एक रथको सात जोडे है।" अर्थात् इस शरीर रूपी रथको सात घोडे जोडे हैं परन्तु ये सात घोडे होते हुए भी वस्तुतः "सप्तनामक एक ही घोडा इसको चलाता है। अर्थात् इस रथको चलानेवाली गति एक ही है, परंतु वह सात प्रकारके रूपोंमें दीखती है। जैसा आंख, नाक, कान, रसना, त्वचा, मन ये सात ज्ञानेंद्रिय हैं, ये ज्ञानेंद्रियरूपी सात घोडे इस शरीरको जोते हैं, परंतु देखा जाय तो ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा कि आत्माकी एक चित् शक्ति इन सातों इंद्रियोंमें विभक्त हो गई है अतः यहां कह सकते हैं कि यहां घोडे सात भी हैं और सात नामोंवाला एक ही घोडा है। एक कथनमें स्थूल की ओर दूसरे कथनमें सूक्ष्म की ओर से देखा गया है।

इसी प्रकार दो हाथ दो पांव, गुह्य, गुदा और शिश्न ये सात कर्मेंद्रियां यद्यपि सात हैं, तथापि आत्मा की कर्मशक्ति के ही ये सात विभाग हुए हैं इसलिये स्थूल दृष्टिसे ये सात घोडे इस शरीर रूपी रथको जोते हैं; ऐसा हम कह सकते हैं तथापि आत्मा की दृष्टिसे हम ऐसा भी कह सकते हैं कि एक ही आत्माकी कर्मशक्ति यहां सात रीतिसे विभक्त होकर कार्य कर रही है।

कर्मेंद्रिय, ज्ञानेंद्रिय, प्राण, मन, चित्त अहंकार, बुद्धि ये भी सात घोडे इस शरीरके साथ जोते गये हैं परंतु आत्माकी ओरसे देखनेसे ऐसा भी कह सकते हैं कि एक ही इन्द्रशक्ति इस सब इंद्रियोंमें कार्य कर रही है।

इसी प्रकार अन्यान्य विषयोंके संबंधमें समझना योग्य है। जैसा एक ही प्राण शरीरमें ग्यारह स्थानोंमें रहनेसे प्राण, अपान आदि नामोंको प्राप्त करता है। यह भाव शारीरिक विषयोंके संबंधमें हुआ, परंतु जैसा यह शरीर छोटा ब्रह्माण्ड है उसी प्रकार यह संपूर्ण जगत् भी एक बडा शरीर ही है। अतः दोनों स्थानोंमें नियम एक जैसा है, अतः 'एक रथको सात घोडे जोते हैं, परंतु सात नामोंवाला एक ही घोडा इस रथको खींचता है' इस बातको इस जगत्में भी देखना चाहिये।

यह जगत् पृथ्वी, आप,तेज, वायु, आकाश, तन्मात्र और महत्तत्व इन सातोंके द्वारा चलाया जाता है यह सत्य है, तथापि एक ही महत्तत्व इन सातोंमें परिणत होकर इस जगत्को चलाता है यह भी उतना ही सत्य है। सूर्यके किरणोंमें सात रंगोंके सात किरण हैं यह बात जैसी सत्य है उसी प्रकार सूर्यका एक ही किरण उन सात प्रकाशकिरणोंमें विभक्त हुआ है यह भी उतना ही सत्य है। इसी कारण सूर्यको सप्ताश्व, सप्तरश्मि इत्यादि नाम दिये गये हैं।

एक संवत्सर कालके सात ऋतु हैं, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमंत शिशिर ये छः और अधिक मासका एक मिल कर सात ऋतु हैं। तथापि इन सातों ऋतुओंमें एक ही काल व्यापता है और सात ऋतुओंमें परिणत होता है।

बाल्य, कौमार्य, तारुण्य, यौवन, परिहाण, वार्धक्य, जरा ये सात आयुके जैसे सात भाग हैं और इनमें एक ही जीवन की अवधि अर्थात् आयु व्यतीत होती है; उसी प्रकार इस जगतकी आयुके भी सात भाग हैं और उनमें जगतकी आयु विभक्त होती है। इस दृष्टिसे सर्वत्र देखना योग्य है। तात्पर्य यह है कि स्थूल दृष्टिसे विभक्त अवस्था ज्ञात होती है और सूक्ष्म दृष्टिसे

एकावस्था किंवा साम्यावस्था प्रतीत होती है। इसके लिये और भी एक उदाहरण देते हैं। मिट्टी एक है परंतु उसके पात्र अनंत होते हैं, सोना एक है परंतु उसके अनंत आभूषण होते हैं। यहां मिट्टी और सोनेकी दृष्टिसे सब पात्र और आभूषण एक ही हैं, तथापि व्यवहारके आकार भेदसे उनमें भेद भी है। इसी प्रकार 'एक रथको ओढनेवाले सात घोडे हैं तथापि उन सातोंका नाम धारण करनेवाली एक ही खींचनेवाली शक्ति है,' इस मंत्रके कथनमें " एक ही शक्ति सात स्थानोंमें विभक्त होकर इस जगतमें कार्य कर रही है" इतना ही विषय मुख्य है, फिर पाठक उसको शरीरमें देखें अथवा जगत्में देखें।

जिस रथको ये सात घोडे जोते हैं उस रथको एक ही चक्र है। और वह चक्र-

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वम्। (मं० २)

"तीन नाभिवाला यह एक चक्र जरारहित और अतिवेगसे चलनेवाला है।" इसका विचार प्रथम हम जगत्में देखेंगे, कालचक्र एक है, और उसके भूत, भविष्य, वर्तमान ये तीन केन्द्र हैं। यह चक्र कदापि क्षीण नहीं होता और न इसको कोई प्रतिबंध करता है। संवत्सरचक्र एक है और उसके शीत, उष्ण और वृष्टिके तीन केन्द्र हैं। इनमें यह घूम रहा है। प्रकृतिचक्र एक ही है और उसके सत्व,रज और तम ये तीन केन्द्र हैं इनमें यह घूम रहा है। जगत् चक्र एक है और उसके उत्पत्ति,स्थिति और लय ये तीन केन्द्र हैं इनमें यह घूम रहा है, इस तरह सृष्टिके अन्दर इस एकचक्रकी बातको पाठक देखें और अनुभव करें।

इसी ढंग से मनुष्य के अंन्दर भी इस चक्रको देखना उचित है। एक ही शरीरचक्र कफ, पित्त, वात इन तीन केन्द्रों पर चल रहा है। यही प्रकृतिचक्र सत्व, रज, तमके ऊपर घूम रहा है। इसी तरह और कई नाभियां यहां भी हैं।

यस्मेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः। (मं० २)

" इसके अन्दर सब भुवन ठहरे हैं।" यह जो चक्र पूर्वस्थानमें कहा है उसमें सब भुवन रहे हैं। जगत् के पक्षमें संपूर्ण भुवन रहे हैं यह बात स्पष्ट ही है। शरीरके पक्षमें शरीरान्तर्गत सब अंग और अवयव ही यहां भुवन लेनेसे मंत्रमें कहा तत्त्व शरीरमें अनुभव हो सकता है। शरीरमें कफपित्तवात नामक तीनों नाभियोंमें भ्रमण करनेवाले चक्रमें ये सब अंग और अवयव कार्य करते हैं। इसी ढंगसे अन्यान्य चक्रों के विषयमें जानना योग्य है।

अगले तृतीय मंत्रमें (इमं रथं ये सप्त अधितस्थुः) इस रथके आश्रयपर जो सात तत्त्व अधिष्ठित हुए हैं, ऐसा कहकर आगे सप्तचक्र रथ, सप्त अश्व, सात (स्वसारः) बहिनें तथा (गवां सप्त) सात गौवें ' हैं ऐसा कहा है यह रथ सात चक्रोंवाला है, इसके सात गति—साधन हैं, येही सात गतियां इसके अश्व हैं, गौ नाम वाणीका है. इस शरीरमें इस वाणीके सात भेद हैं; इंद्रियां सात सात विभक्तियां, सात, कालविभाग,(अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात्री, मुहूर्त ये सात कालविभाग)हैं। सात बहिनें यहां शरीरमें सात मज्जा केन्द्रोंसे चलनेवाले प्रवाह हैं, सात इंद्रियोंमें चलनेवाले प्रवाह हैं। बाह्य जगत् में सप्त लोक, सप्त अवस्था, सात किरणें, सात नदियां आदिकी कल्पना करना योग्य है।

यह कूटमंत्र है और इसका अर्थ इस प्रकारके मनन से जाना जा सकता है। आगे चतुर्थ मंत्र देखिये-

अनस्था अस्थन्वन्तं बिभर्ति (मं० ४)

" (अन्- अस्था) जिसमें हड्डी नहीं है ऐसा आत्मा (अस्थन्- वन्तं) हड्डीवाले शरीरका धारण करता है।" यह महत्त्वपूर्ण कथन इस मंत्रमें कहा है। आत्माके लिए ' अनस्था' शब्द है और शरीरके लिए'अस्थन्वान्' शब्द है। इसी प्रकारका भाव निम्नलिखित यजुर्वेदके मंत्रमें है-

अकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। वा० यजु० ४० । ८

" वह आत्मा शरीररहित, व्रणरहित, स्नायु-मांस-रहित है, अतएव शुद्ध और पापरहित है।" यह ' अन् – अस्था ' (अस्थिरहित) शब्दका ही अधिक विवरण है, अधिक अर्थका विस्तार है। वह आत्मा हड्डीरहित मांसरहित शरीररहित व्रणरहित, रक्तरहित, धमनीरहित, चर्मरहित है, इसी प्रकार और भी वर्णन हो सकता है। शरीर हड्डी, मांस, व्रण, रक्त, धमनी आदिसे युक्त है। इस शरीरका धारण उक्त प्रकार का आत्मा कर रहा है। जड शरीरका धारण चेतन आत्मा करता है। इसको कौन देखता है ? —

कः जातमानं प्रथमं ददर्श ? (मं० ४)

" इस प्रकट होनेवाले आत्माका सबसे प्रथम किसने दर्शन किया ! " इसके अस्तित्वके विषयमें किसने प्रथमसे प्रथम अनुभव किया ? किसने निश्चित रूपसे इसको जान लिया ? किसने इसकी आश्चर्यमयी शक्तियोंका सबसे पहिले अनुभव किया ? अर्थात् कौन इसको पूर्णतासे जानता है ? और–

भूम्याः असृक् असुः आत्मा कस्मिन् ? (४)

" इस भूमिके अन्दर अर्थात् स्थूल शरीरके अन्दर रक्त मांस, प्राण और आत्मा कहां भला निवास करते हैं। " यह स्थूल शरीर पृथ्वीतत्त्वका बना है, उससे भिन्न जलतत्त्व है, वायुतत्त्व भी भिन्न है, तथापि इस शरीरके अन्दर ये पञ्चतत्त्व एक स्थानपर विराजमान हुए हैं और एक उद्देश्यसे कार्य कर रहे हैं ? इन विभिन्न तत्त्वोंको एक उद्देश्यसे चलानेवाला यहां कौन है ? यहां पृथ्वी तत्त्वसे हड्डी आदि कठीन पदार्थ, जलतत्त्वसे रक्त रेत आदि प्रवाही पदार्थ, अग्नि तत्त्वसे पाचन शक्ति, उष्णता आदिकी स्थिति, वायुतत्त्वसे प्राण आदिकी स्थिति और परमात्मासे आत्मा का प्रकटीकरण इस शरीरमें हुआ है। परंतु ये कहां कैसे रहते हैं ? कौन इनका संचालक है। इसी विषयका एक मंत्र अथर्ववेदमें है वह यहां देखिये–

को अस्मिन्नापो व्यदधात्विषूवृतः पुरुवृतः सिंधुसृत्याय जाताः।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ अथर्व. १०। २। ११

" किस देवताने इस शरीरमें शीघ्र गतिवाले, लाल रंगवाले और तांबेके धूम्रके समान रंगवाले, ऊपर, नीचे और तिरछे चलनेवाले जलप्रवाह शुरू किए हैं ?" यह रक्तके अभिसरणके संबंधमें वर्णन है, इसी (१०। २) केन सूक्तमें शरीरके अन्यान्य अवयवोंके विषयमें भी पृच्छा की है। इस प्रकार किस देवताके द्वारा यह सब शरीर धारण हुआ है ? यह तत्त्वज्ञानके विषयमें एक महत्त्वका प्रश्न है।

कः विद्वांसं प्रष्टुं उपगात् ? (मं ४)

" कौन शिष्य इसके विषयमें पूछनेके लिये विद्वान्के पास जाता है " और कौन इसके विषयमें ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और कौन इसके विषयमें निश्चित ज्ञान देता है ?

यः वेद इह अदीसु ! (मं० ५)

" जो इस आत्माके विषयमें ठीक ठीक ज्ञान जानता है वह यहां आवे, और हम सब शिष्योंसे उपदेश करें " और हमको बतावे कि यह आत्मा इस शरीरका धारण किस प्रकार करता है ? यह आत्मा अस्थिरहित होता हुआ अस्थिवाले शरीरको चलाता है, मूक शरीरसे यही वार्तालाप करता है और पंगु शरीरको यही चलाता है। पांवोंसे चलना होता है, परंतु ये पांव शरीरके पास हैं और आत्मामें नहीं हैं, तथापि शरीर आत्माकी प्रेरणाके विना चल नहीं सकता। इसी प्रकार शब्दोच्चार करनेवाला मुख है तो शरीरके पास, परंतु आत्माकी प्रेरणाके विना केवल शरीरसे शब्दोच्चार हो नहीं सकते। इसीलिये–

अस्य वामस्य वेः निहितं पदं वेद। (मं० ५)

" इस परमप्रिय गतिमान आत्माका इस शरीरमें रखा हुआ जो पद है, " उसको जानना चाहिये। यही पद प्राप्त करना चाहिये, यह गुप्त है इसीलिये इसकी खोज करनी होती है। सब योगी मुनि, ऋषि, सन्त महन्त इसीकी खोज करते हैं, प्राप्ति करते हैं और आनन्दके भागी बनते हैं।

गावः अस्य शीर्ष्णः क्षीरं दुहते। (मं०५)

" इंद्रियरूपी गौवें इसके सिरके स्थानसे दूध निचोडती हैं। " आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा आदि इंद्रियरूपी गौवें रूप, गंध, शब्द, रस और स्पर्श रूपी दूध निकालती हैं और इन विषयरूपी दूधको यह प्राप्त करके सुखका भागी होता है। इसके विषयमें जिज्ञासु पुरुषके मनमें बहुतबार अनेक प्रश्न पूछनेके लिये उपस्थित होते हैं और वह पूछता भी है–

पाकः मनसा अविजानन् पृच्छामि।
देवानां एना निहिता पदानि ॥ (मं० ६)

" (पाकः) पक कर तैयार होनेवाला मुमुक्षु मनुष्य (मनसा अविजानन्) मनसे कुछ भी आत्मज्ञान नहीं जानता है इसलिये पूछता है कि इस देहके अन्दर (देवानां पदानि) अनेक देवोंके स्थान कहां कहां रखे हैं।" मनुष्य पक कर परिपक्व अर्थात् पूर्ण होनेके लिये यहां रखे हैं, इनमें जिसको अपने अज्ञानका पता लगता है, वह मुमुक्षु बनता है और वह सद्गुरुके पास जाकर उससे प्रश्न पूछता है कि 'हे गुरो ! जो अनेक देवताओंके पद इस शरीरमें रखे गये हैं वे कहां हैं ? किस देवताका पद यहां किस स्थानपर रखा गया है ? यहां सूर्यदेवने अपना पद चक्षुस्थानमें रखा है, वायुदेवने अपना पद फेफड़ोंमें रखा है, जलदेवने अपना पद जिह्वास्थानमें तथा रक्तमें रखा है इसी प्रकार अन्यान्य देवोंने अन्यान्य स्थानोंमें अपने पद रखे हैं। इस तरह इस शरीरमें अनेक देवताओंके पद अर्थात् स्थान किंवा निवासस्थान हैं। पाठक इनका अनुभव करें और यह किस प्रकार देवमंदिर है इसका ज्ञान प्राप्त करें। यही बात अन्यत्र निम्न प्रकार कही है—

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत् ॥ ३ ॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥ ४ ॥
ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥
संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥
गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ २९ ॥
तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥ अथर्व. ११।८ (१०)

" दस देवोंसे दस देवपुत्र उत्पन्न हुए, जो इनको प्रत्यक्ष देखता है वह बड़ा तत्त्वज्ञान कह सकता है। प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अमरत्व और नाश, व्यान, उदान वाणी और मन ये दस तेरे संकल्पको चलाते हैं। दस देवोंसे जो दस देवपुत्र हुए, वे अपने पुत्रोंको स्थान देकर किस लोकमें चले गये ? सिंचन करनेवाले देव हैं जो सब संभार इकट्ठा करते हैं, सब मर्त्य देहको सिंचन करके ये देव मनुष्य देहमें घुसे हैं। देह रूपी मर्त्य घर करके इसमें देव रहने लगे हैं, रेतका घी बनाकर देव इस पुरुषमें आगये हैं। जो ज्ञानी है वह इस पुरुषको ब्रह्म करके मानता है, क्योंकि इसमें सब देवताएं रहती हैं, जैसी गोशालामें गौवें रहती हैं ॥"

इस प्रकार इस शरीररूपी देवशालाका वर्णन है। यहां आंखमें सूर्य, फेफड़ोंमें प्राण किंवा वायु, इस प्रकार अन्यान्य देव अन्यान्य स्थानोंमें विराजते हैं। बड़े सूर्य वायु आदि देव बाह्य विश्वमें हैं और उनके छोटे पुत्र नेत्रादि स्थानपर निवास करते हैं। यहीं मानों उनके पद रखे हैं अर्थात् सूर्यने अपना पद नेत्रस्थानमें रखा है, वायुने अपना पद फेफड़ोंमें रखा है, जलने अपना पद जिह्वापर रखा है इसी प्रकार अन्यान्य देवोंने अपने पद शरीरस्थानीय अन्यान्य अन्यान्य भागोंमें रखे हैं। इन्हींका वर्णन (देवानां निहिता पदानि) देवोंके पद यहां रखे हैं इन शब्दोंसे हुआ है। तथा—

कवयः ओतवै उ सप्त तन्तून् वितस्तिरे। (मं० ९)

" कवि लोग जीवनका वस्त्र बुननेके लिये सात धागोंको फैलाते हैं। " जिस प्रकार जोलाहा ताना फैलाता है और उसमें बानेके धागे रखकर उत्तम वस्त्र तैयार करता है, उसी प्रकार नेत्रसे रूपके, कानसे शब्दके, नाकसे गंधके, जिह्वासे आस्वादके, त्वचासे स्पर्शके, मनसे ज्ञानके और बुद्धिसे विज्ञानसे धागे फैलाकर इस तानेमें कर्मयोग और ज्ञानयोगका बाना मिलाकर सुंदर जीवन का वस्त्र बनता है। यही पुरुषार्थी जीवनका वर्णन है। ये सात तन्तु हैं प्रायः हरएक मनुष्य की खड्डीपर ताना फैलाया है, जो इसमें पुरुषार्थका बाना मिलायेगा वही उत्तम जीवनवस्त्र बना सकता है। इस प्रकार सात तन्तुओंका वर्णन पाठक देखें और इससे पूर्व जो 'सात' संख्यावाले पदार्थोंका वर्णन आया है उसके साथ इसका अनुसन्धान करें।

अचिक्रित्वान् न विद्वान्, चिकित्षुः विद्वनः कवीन् पृच्छामि। (मं० ७)

अज्ञानी अविद्वान मैं ज्ञानी विद्वान् कवियोंसे पूछता हूं। ये ज्ञानी लोग मेरी आशंका को दूर करें। अज्ञान ज्ञानीसे पूछे, अविद्वान् विद्वान् के पास जाय, साधारण मनुष्य कविके साथ रहे और अपनी आशंकाएँ पूछें और इस तरह ज्ञान प्राप्त करें। विद्वानसे पूछने योग्य प्रश्न यह है—

यः इमाः षट् रजांसि तस्तंभ (मं० ७)

" किस एकने इन छः लोकोंको आधार दिया है?" किस एकका आधार इस संपूर्ण जगतको प्राप्त होता है? किसके आधार पर यह विश्व है और चल रहा है? यह प्रश्न विद्वानको प्राप्त कर उसे पूछना योग्य है, और भी एक प्रश्न पूछना योग्य है—

अजस्य रूपे किं एकं स्वित् ? (मं० ७)

"अजन्मा आत्माके रूपमें एक रूप कौनसा है? अनेक अजन्माजीवात्मा हैं, इनकी संख्या अनन्त है। इन अनन्त जीवात्माओंमें एक तत्त्व जो है वह कौनसा तत्त्व है। एक ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। यह एकरस और सर्वत्र अनुस्यूत है। जीवोंमें अनेकत्व और अणुत्व है। इसमें अनेकत्व नहीं और अणुत्व भी नहीं है। प्रत्युत इसमें एकत्व और सर्वव्यापकत्व है। यही एक तत्त्व सर्वत्र भरपूर है। कोई पदार्थ इससे खाली नहीं है। यह परमात्मा अपनी प्रकृतिके साथ रहता है, यह एक गृहस्थके समान है। प्रकृति उसकी धर्मपत्नी है और यह उस प्रकृतिका धर्मपति है। ये किस प्रकार वर्ताव करते हैं देखिये—

माता पितरं ऋते आबभाजे। (मं० ८)

"माता पिताकी सत्यधर्ममें-यज्ञमें-सेवा करती है सहायता करती है।" धर्मपत्नी अपने पतिकी सेवा करे और उसको यज्ञ करनेमें सहायक बने। यह गृहस्थ धर्मका उपदेश यहां मिलता है सबकी माता प्रकृति परमपिता परमात्माकी सहायता करती है और सृष्टिरूप यज्ञ सिद्ध करनेमें सहायक होती है। यह आदर्श गृहस्थाश्रम है। हरएक गृहस्थी इस प्रकार अपना व्यवहार करे।

धीती अग्रं मनसा सं जग्मे। (मं० ८)

" यह गृहस्थाश्रमका धारण करनेवाली धर्मपत्नी पहिलेसे ही मनसे उसके साथ मिलती है।" वह केवल बाहरके दिखावेके लिये ही पतिके साथ मिलकर रहती है, ऐसी बात नहीं परंतु वह मनके आन्तरिक भावसे भी पतिके साथ मिलकर रहती है। गृहस्थाश्रमी स्त्रीपुरुष इसी प्रकार मनसे एकरूप होकर अपना गृहस्थाश्रम चलावें और कृतकृत्य बनें। प्रकृतिमाता तो अपने मनसे परमात्माके साथ ऐसी मिलजुल कर रहती है कि कभी उसके विरोध नहीं करती। जो परमात्माकी इच्छा होती है वैसा विश्वरचना का कार्य करती है। यहां भी गृहस्थाश्रमियोंको बड़ा अनुकरणीय उदाहरण मिलता है।

सा बीभत्सुः गर्भरसा निविद्धा। (मं० ८)

" वह माता गर्भका धारण पोषण करनेवाली गर्भके रससे रंगी गर्भके पोषणमें लगी रहती है।" दूसरा कोई कार्य उनको सूझता नहीं है। हरएक स्त्री जो गृहस्थाश्रममें है इसी प्रकार गृहमें रहनेवाले पुत्रादिकों की पालना करनेमें दत्तचित्त रहे, गर्भधारण होनेपर गर्भके पालन में योग्य रीतिसे दत्तचित हो और ऐसे किसी भी कार्यमें व्यग्र न हो कि जो गर्भके पोषण के प्रतिकूल हों। प्रकृतिमाता अपने गर्भका धारण पोषण और उत्पत्ति आदिके विषयमें कैसी दत्तचित्त होती है और किसी भी प्रकार प्रमाद न करती हुई अपना कार्य तत्परतासे करती है।

नमस्वन्तः उपवाकं ईयुः(मं० ८)

(नमस्वन्तः) नमस्कार करते हुए अथवा अन्नसे युक्त पुरुष उनकी प्रशंसा करते हुए उनके पास आते हैं।"उक्त प्रकारके गृहस्थी जहां होते हैं वहां सब अन्य लोग उनको नमस्कार करते हैं और उनके सत्संगमें रहना चाहते हैं। अथवा अन्न की भेंट लेकर उनके पास उपस्थित होते हैं और उनका उस भेंटसे संत्कार करते हैं। आदर्श गृहस्थीका इस प्रकार सत्कार होता है और आदर्श गृहस्थका घर कैसा होता है, इस विषयमें प्रकृति पुरुषके दृष्टान्तसे ऊपर लिखा ही है। पाठक इसका विचार करें। और देखिये—

माता धुरि युक्ता आसीत्। (मं ९)

" माता गृहस्थके कार्यकी धुरामें लगाई है।" माता पीछे रहनेवाली नहीं है। वह धुरामें रहकर कार्य करनेवाली है।

गृहस्थाश्रममें धर्मपत्नीका यही कार्य है। गृहस्थके सब कार्योंमें वह धुरामें रहकर दत्तचित्त होकर कार्यका भार उठाती है, इसीलिये उसको सहधर्मचारिणी गृहिणी कहते हैं। गर्भवती होनेपर भी वह इसी प्रकार धुरामें रहकर कार्य करती है।

गर्भो वृजनीष्वन्तः अतिष्ठत् (मं० ९)

" गर्भ अपने अन्दर अन्तःशक्तियोंके आधारपर रहता है। " गर्भको अन्दर धारण करती हुई गृहिणी धुरामें रहकर सब कार्यका भार उठाती है। इसी प्रकार गृहिणी अपने घरमें कार्य करे। पतिके अनुकूल धर्मपत्नी रही तो उनके बच्चे भी पिता माताके (अनु) अनुकूल होते हैं, जिस प्रकार (गां अनु वत्सः) गौके अनुकूल बछडा होता है, ठीक उस प्रकार सद्गृहिणी गृहिणीके बालबच्चे उनके अनुकूल रहते हैं और इस प्रकार अपने पुत्रोंमें वे माता पिता (विश्वरूप्यं अपश्यत्) सब अपना रूप देखते हैं। मातापिताका सब प्रकारका रूप पुत्रोंमें आता है। जैसे मातापिताके शरीर, मन और बुद्धिके भाव होते हैं वैसे ही पुत्र और पुत्रियोंमें होते हैं। अतः कहा है (त्रिषु योजनेषु) तीनों शरीर मन बुद्धिमें सब प्रकार की सादृश्यता दिखाई देती है। पूर्ण गृहस्थाश्रम का यह फल है। इसमें माता पिता, पुत्र और पुत्रियां एक विचारसे परिपूर्ण होती हैं और किसी प्रकार इनमें आपसी विरोध नहीं होता है।

एकः तिस्रः मातॄः त्रीन् पितॄन् बिभ्रत् ऊर्ध्वः तस्थौ ॥ (मं० १०)

" अकेला वह सुपुत्र तीन माताओंको और तीन पिताओंको अपने अन्दर धारण करता हुआ सीधा खडा रहता है। " अर्थात् तेढी चाल नहीं रखता। तीन माताएं ये हैं- " प्रकृतिमाता, विद्यामाता और अपनी माता। " तीन पिता ये हैं— "परमात्मा, गुरु और अपना जनक।" इन तीनोंको वह अपने अन्दर धारण करता है और सीधे व्यवहार करता है। और कभी (न अवग्लापयन्त) कभी ग्लानीको प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार उपासना और आचरणसे इनकी उच्च योग्यता होती है। और ये स्वर्गमें जाते हैं और वहां-

अमुष्य दिवः पृष्ठे विश्वविदः अविश्वविदां वाचं मन्त्रयन्ते ।(मं० १०)

" उस द्युलोकके पृष्ठभाग पर विराजते हुए ये ज्ञानी लोग सबके ध्यानमें न आनेवाली बातोंका मनन करते हैं। " वहां स्वर्गमें रहकर ऐसे तत्त्वोंका विचार करते हैं कि जिनका ज्ञान साधारण मनुष्यके ध्यानमें भी नहीं आसकता।

परिवर्तमाने पञ्चारे चक्रं विश्वा भुवनानि आतस्थुः (मं० ११)

" घूमते हुए पांच आरोंवाले चक्रमें संपूर्ण भुवन रहे हैं " अर्थात् इस चक्रके आधारसे सब भुवन रहते हैं। पञ्च प्राणोंका जो पांच आरोंवाला प्राणचक्र है उसके आधारसे संपूर्ण भुवन ठहरे हैं। यहां शरीरमें प्राणचक्रके आधारपर सब शरीरके अवयव रहते हैं। प्राण चला गया तो कोई रह नहीं सकता। इसी प्रकार यह संपूर्ण विश्व भी बृहत्प्राणचक्रपर रहा है, विश्वव्यापक महाप्राण जगतके सब भुवनोंका धारण करता है। यह चक्र भ्रमण होरहा है, तथापि इसका मध्यदण्ड (अक्षः न तप्यते) नहीं तपता है। अनादि कालसे यह विश्व घूमता रहनेपर भी इसका कोई भाग तपता नहीं। कोई चक्र जब घूमता है, तब उसका मध्यदण्ड न तपे, इसलिये तेल डालना पडता है,परंतु यहां तेल न डालते हुए ही स्वयं यह मध्यदण्ड नहीं तपता है, यह परमात्माका अद्भुत सामर्थ्य देखने योग्य है। ये जगत्के सब लोकलोकान्तर एक गतिसे घूम रहे हैं, ये कभी ठहरते नहीं, न कभी इनकी गतिमें विघ्न होता है। इस चक्रके मध्यदण्डपर (भूरिभारः) बहुत ही भार है। जो ये लोकलोकांतर हैं उनका भार बहुत ही है, इस भारकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इतना भार होनेपर भी यह विश्वचक्र विलक्षण शान्तिसे और गतिसे चल रहा है। और अनादिकालसे घूमनेपर भी (सनात् एव सनाभिः न छिद्यते) नहीं छिन्नभिन्न होता है। इस प्रकार यह जगच्चक्र विलक्षण सामर्थ्यसे धारण किया है।

आगे बारहवें मंत्रमें " कालचक्र "का वर्णन है इसको यहां (द्वादश आकृति) बारह मासोंकी बारह अवस्थाओंवाला यह कालचक्र अथवा संवत्सरचक्र है। यह संवत्सरचक्र (षड्—अरे) छः अरों में विभक्त हुआ है, छः ऋतु येही इसके छः आरे हैं। अधिक मासका और एक ऋतु माना जाता है, इसके साथ सात ऋतु होते हैं, यहां दर्शानेके लिये (सप्तचक्रे) शब्द आया है। अथवा संवत्सर, अयन, ऋतु मास, पक्ष, अहोरात्र, मुहूर्त, ये भी कालचक्रके अन्तर्गत सात छोटे चक्र हैं, यह भी अधिक योग्य प्रतीत होता है। यह संवत्सर (पञ्चपाद) पांच पांव वाला है, शीतकाल, उष्णकाल और वर्षाकाल और ये

तीन काल वर्षके हैं इनमें चान्द्रमान और सौरमान ये दो गणनात्मक विभाग माननेसे ये संवत्सरके पांच पांव होते हैं, क्योंकि इन्हीं पांवोंसे यह सबका पिता चलता है और सबका (पिता-माता) संरक्षण करता है। इस प्रकारका यह कालचक्र एक वर्षमें घूमता है और सब संसार का कल्याण करता है। इस चक्रमें-

मिथुनासः पुत्राः अत्र सप्तशतानि विंशतिः च आतस्थुः ॥ (मं० १३)

" मिथुन अर्थात् दो दो जुडे हुए पुत्र सातसौबीस हैं। " ये दिन और रात ही हैं। दिनके साथ रात्री और रात्रीके साथ दिन जुडे हैं। चान्द्रवर्षका और सौर वर्षका मध्य अर्थात् ३६० दिनोंका मध्यम वर्ष है। इसके दिन और रात्री ऐसे प्रत्येक दिनके दो जुडे पुत्र माननेसे ७२० होते हैं। अर्थात् यह न चान्द्रवर्ष है और न सौर, परंतु दोनों वर्षोंके मध्यम परिमाणका यह वर्ष है। यह द्वादश महिनोंका (द्वादशारं चक्रं न हि जराय) बारह आरोंवाला चक्र कदाचित् भी जीर्ण नहीं होता है। यह जैसा पहिले था वैसा ही आज भी चल रहा है, कभी जीर्ण (सनेमि अजरं चक्रं) अथवा क्षीण नहीं होता है। ऐसा यह सामर्थ्यवाला कालचक्र है, और इसमें (विश्वा भुवनानि आतस्थुः) सब भुवन रहे हैं। सभी की आयु इस कालचक्रसे गिनी जाती है। जो ज्ञानी है (अक्षण्वान् पश्यत्, न अन्धः) जिसके आंख उत्तम हैं, वह इस बातको देख सकता है, परंतु जो अन्धा होगा, वह कैसे देख सकेगा ?

यः कविः स जायिकेत, यः ता विजानात्,
सः पितुः पिता असत् । (मं० १५)

" जो कवि है वही यह सब ज्ञान प्राप्त करता है, और जो इस ज्ञानको यथावत् जानता है वह पिताका भी पिता होता है। " अर्थात् उसकी योग्यता बहुत ही बडी होती है। वह मानो मुक्त है। यहां एक आश्चर्य है कि—

स्त्रियः सतीः ताँ उ पुंसः आहुः । (मं० १५)

" कई स्त्रियां होती हुई उनको पुरुष कहा जाता है " ऐसा ही जगतमें व्यवहार हो रहा है। मनुष्योंमें भी कईयोंको पुरुष और कईयोंके स्त्रियां कहा जाता है, परंतु आत्माकी दृष्टिसे सब एक जैसे हैं और शरीरकी दृष्टिसे भी सब एक जैसे ही हैं। अतः न कोई स्त्री है और न कोई पुरुष है। वस्तुतः आत्मा पुरुष है और सब प्रकृति स्त्री है। जीवात्मा तो स्त्रीशरीरमें भी जाता है और पुरुषशरीरमें भी जाता है। यह सत्य सिद्धांत होता हुआ भी जगतमें भ्रमसे स्त्रीपुरुष व्यवहार चल ही रहा है। इस वर्णनके पश्चात् सोलहवे मंत्रमें पुनः कालचक्रका और एक प्रकारसे वर्णन करते हैं-

षड् यमाः एकः एकजः देवजाः ऋषयः । (मं० १६)

" देवतासे उत्पन्न हुए ऋषि हैं, उनमें छः जुडे हैं और एक अकेला है।" छः ऋतु प्रत्येक दो दो मासोंवाला होता है और तेरहवें मासका ऋतु होता है वह अकेला ही एक होता है। ये सब ऋतु सूर्य देवसे उत्पन्न होते हैं और (ऋषयः = रश्मयः) सूर्यकिरणोंके संबंधसे इनमें उष्णताकी न्यूनाधिकता होती है। अतः इन ऋतुओंको (सप्तथं) सात प्रकारके हैं ऐसा कहा जाता है। आगे सतरहवें मंत्रमें प्रकृतिरूपी गौका वर्णन है यह अद्भुत गौ अपने सूर्यादि बच्चोंको साथ लेकर कहां रहती, क्या करती, और अपने पदसे बचेको किस प्रकार धारण करती है, इत्यादि कहा है वह यद्यपि संदिग्धसा है, तथापि पूर्वस्थान के वर्णनका विचार और मनन करनेसे कुछ बोध हो सकता है।

इसके आगेके मंत्रोंका विवरण सबसे प्रथम हो चुका है। अतः उनका अधिक विचार फिर करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार इस सूक्त की संगति है। आत्मा परमात्मा, काल और विश्वके सब भूत इनका सुन्दर वर्णन यहां है। पाठक इन मन्त्रोंका मनन करें और आध्यात्मिक आशय जानें। इस सूक्तका संबन्ध अगले सूक्तसे है, अतः उनका मनन अब करें-

—:०:—

एक आत्माके अनेक नाम ।

(१०)

(ऋषिः ब्रह्मा । देवता—गौः, विराट् अध्यात्मम्)

१५ (१०)

यद् गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभं वा त्रैष्टुभान्निरतक्षत ।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ॥ १ ॥
गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम् ।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥ २ ॥
जगता सिन्धुं दिव्यस्कभायद् रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत् ।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा ॥ ३ ॥

अर्थ-(यत्) जो (गायत्रे) गायत्रमें (गायत्रं अधि आहितं) गायत्र रखा है। और (त्रैष्टुभात् वा त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभसे त्रैष्टुभ की (निरतक्षत) रचना की है, (यत् वा) अथवा जो (जगत् जगति आहितं) जगत् जगतिमें रखा है, (ये इत्) जो (यत् पदं विदुः) इस पदको जानते हैं (ते अमृतत्वं आनशुः) अमरत्वको प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

(गायत्रेण अर्कं प्रतिमिमीते) गायत्री छन्दसे अर्चनीय देवका प्रतिमापन अर्थात् गुणवर्णन करता है, (अर्केण साम) अर्चनीय देवताके द्वारा साम अर्थात् शान्तिको प्राप्त करता है। (त्रैष्टुभेन वाक्) त्रिष्टुप् छन्दसे वाणीका मापन करता है और (वाकेन वाकं) वाणीसे वर्णन करता है। इस प्रकार (द्विपदा चतुष्पदा सप्त वाणीः अक्षरेण मिमते) दो चरणों और चार चरणोंवाले सात छन्दोंको अक्षरोंकी गिनतीसे गिनते हैं ॥ २ ॥

(जगता सिन्धुं दिवि अस्कभायत्) जगति छन्द द्वारा समुद्रको द्युलोकमें थाम रखा है, द्युलोकका समुद्रके समान वर्णन किया है। [रथन्तरे सूर्यं परि अपश्यत्] रथन्तरमें सूर्यका दर्शन किया है, सूर्यका वर्णन है । [गायत्रस्य तिस्रः समिधः आहुः] गायत्री छन्द की तीन समिधायें—तीन पाद—हैं ऐसा कहते हैं। (ततः मह्ना महित्वा प्ररिरिचे) उससे बडी महिमासे संयुक्त होता है ॥ ३ ॥

भवार्थ-गायत्री, त्रिष्टुप् और जगति आदि छंदों में जो महत्त्वपूर्ण ज्ञान रखा है, उस ज्ञानको जो जानते हैं, वे अमृतत्व-मोक्ष-को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

गायत्री छन्दसे पूज्य ईश्वरका वर्णन होता है, इसकी उपासनासे शान्ति प्राप्त होती है। त्रिष्टुप् छन्दसे भी उसी वर्णनीय देवका वर्णन होता है और इसी तरह दो चरण और चार चरणोंवाले सब छंदोंसे वही वर्णन होता है। ये सातों छन्द अक्षरोंकी गिनतीसे मापे जाते हैं ॥ २ ॥

जगति छन्दसे उसका वर्णन है कि जिसने इस द्युलोकको आधार दिया है। रथन्तर साम मंत्रसे सबके प्रकाशक सूर्यका वर्णन होता है। गायत्री छन्दमें तीन पाद होते हैं और उस छन्दमें महत्त्वपूर्ण ज्ञान भरा रखा है ॥ ३ ॥

*

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तं॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभीद्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥ ४ ॥

हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सु॒पत्नी॒ वसू॑नां व॒त्समि॒च्छन्ती॒ मन॑सा॒भ्यागा॑त् ।
दुहा॑म॒श्विभ्यां॑ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां महते सौभगा॒य ॥ ५ ॥

गौर॑मीमेदा॒भि व॒त्सं मि॒षन्तं॑ मू॒र्धानं॑ हिङ्ङ॑कृणो॒न्मात॒वा उ॑ ।
सृक्वा॑णं घ॒र्ममभि॑ वावशा॒ना मिमा॑ति मा॒युं पय॑ते पयो॒भिः ॥ ६ ॥

अ॒यं स शिं॑ष्क्ते॒ येन॒ गौर॒भीवृ॑ता॒ मिमा॑ति मा॒युं ध्व॒सना॒वधि॑ श्रि॒ता ।
सा चि॒त्तिभि॒र्नि हि च॑कार॒ मर्त्या॒न् विद्युद्भ॑वन्ती॒ प्रति॑ व॒व्रिमौ॑हत ॥ ७ ॥

(सुहस्तः एतां सुदुघां धेनुं उपह्वये) उत्तम हाथवाला मैं इस सुखसे दोहने योग्य धेनुको बुलाता हूं। (उत गो-धुक् एनां दोहत्) और गायका दोहन करनेवाला इसका दोहन करे। [सविता श्रेष्ठं सवं नः साविषत्] सबका उत्पन्न करनेवाला सविता यह श्रेष्ठ अन्न हमें देवे। (अभीद्धः घर्मः तत् उ सु प्रवोचत्) प्रदीप्त तेजरूपी दूध यही बता देवे ॥ ४ ॥

(हिंकृण्वती वसूनां वसुपत्नी) हीं हीं करनेवाली ऐश्वर्योंका पालन करनेवाली [मनसा वत्सं इच्छन्ती] मनसे बछडेकी इच्छा करनेवाली (नि आगात्) समीप आगई है। (इयं अघ्न्या अश्विभ्यां पयः दुहां) यह अवध्य गौ दोनों अश्विदेवोंके लिए दूध देवे। (सा महते सौभगाय वर्धतां) और वह बडे सौभाग्य के लिए बढे ॥ ५ ॥

(गौः मिषन्तं वत्सं अभि अमीमेत्) गाय उत्सुक बछडेको चारों ओरसे प्रेम करती है। और (मातवे उ मूर्धानं हिङ्कृणोत्) मातृताके लिए अपने सिरको हिंकारसे युक्त करती है। (सृकाणं घर्मं वावशाना) उत्पादक उष्णताको चाहती हुई [पयोभिः मायुं अभिमिमीते पयते] दूधके साथ प्रकाशको चारों ओर फैलती और साथ साथ दूध भी देती है ॥ ६ ॥

[अयं सः शिङ्क्ते] यही वह शब्द करता है। [येन अभीवृता गौः] जिससे संयुक्त हुई गौ उसीमें [ध्वसनौ अधि-श्रिता] प्रलयमें आश्रित होती हुई (मायुं मिमाति) प्रकाशका मापन करती है। [सा चित्तिभिः मर्त्यान् नि चकार] वह चिन्तनशक्तियोंके साथ मनुष्योंको युक्त करती है और [विद्युत भवन्ती वाग्रं प्रति औहत] बिजलीके समान चमकदार होकर उत्तम रूपको प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

भावार्थ-मैं उत्तम स्वच्छ हाथोंसे युक्त होकर इस अमृत-मोक्ष-रूपी दूधको देनेवाली ज्ञानमयी वाणीरूप धेनुकी प्रार्थना करता हूं। जो इस गायका दोहन करना जानता है वही इसका दोहन करे। सबका उत्पादक देव हमें यह ज्ञानरूपी अन्न देवे और इससे प्रकाशमय यज्ञरूपी धर्म हमारे द्वारा सिद्ध होवे ॥ ४ ॥

हिंकारसे युक्त और मनसे शिष्यरूपी वत्सकी कामना करती हुई यह दिव्यज्ञानपूर्ण वेदवाणी रूपी गौ हमारे पास आगयी है। यह अवध्य गौ हमें अमृत जैसा ज्ञानरूपी दूध देवे और हमारा महान् सौभाग्य बढावे ॥ ५ ॥

यह गौ उसी बच्चेको दूध देती है जो बडा उत्सुक है। उसीको यह अनुकूल रहती है। यह यज्ञरूप धर्मको फैलाना चाहती है और जो यज्ञरूप जीवन बनाता है उसीको अपने अमृतरसधाराओंसे पुष्ट करती है ॥ ६ ॥

यही वह एक शब्द है जिससे युक्त हुई यह वाणीरूपी धेनु प्रलयकालमें भी अर्थात् मृत्युके अनंतर भी प्रकाश देती है। यह मननशक्तियोंसे मनुष्योंको युक्त करती है और विद्युत्के समान विशेष प्रकाश देकर मार्ग बताती है ॥ ७ ॥

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ८ ॥
विधुं दद्राणं समिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥ ९ ॥
य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश ॥ १० ॥ (२६)
अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥ ११ ॥

अर्थ—[पस्त्यानां मध्ये] लोगोंके बीचमें [ध्रुवं एजत् जीवं] स्थिर चालक जीव [तुरगातु अनत् शये] तीव्र गतिमान प्राणशक्तिवाला होकर रहता है। यह [मृतस्य जीवः] मरे मनुष्य का जीव [अमर्त्यः] स्वयं अमर होता हुआ भी [मर्त्येन सयोनिः] मर्त्य शरीरके साथ समान योनिमें प्रविष्ट होकर [स्व-धाभिः चरति] अपनी धारक शक्तियोंसे चलता है ॥ ८ ॥

[समिलस्य पृष्ठे] प्रकृतिसमुद्रकी पीठपर [दद्राणं विधुं] गतिमान विधान-कर्म कर्ता [युवानं सन्तं] युवा सत् पदार्थको [पलितः जगार] एक वृद्ध निगलता है। [देवस्य पश्य काव्यं] ईश्वरका यह काव्य देख। (महित्वा) महिमासे जो [ह्यः सन् आन] कल प्राण धारण करता था। [सः अद्य ममार] वह आज मरगया ॥ ९ ॥

[यः ईं चकार] जो करता है, [सः अस्य न वेद] वह इसको जानता नहीं। [यः ईं ददर्श] जो देखता है [तस्मात् हिरुग् इत् नु] उसके नीचे ही वह है। (सः मातुः योनौ अन्तः परिवीतः) वह माताकी योनिके अन्दर परिवेष्टित होकर [बहुप्रजा निर्ऋतिः आविवेश] बहुत संतान उत्पन्न करनेवाली इस प्रकृतिमें प्रविष्ट होता है ॥ १० ॥

(गो—पां अनिपद्यमानं) इंद्रियोंका रक्षक पतनको न प्राप्त होनेवाले (पथिभिः आ च परा च चरन्तं) अपने मार्गोंसे पास और दूर जानेवालेको (अपश्यं) मैंने देखा। (सः सध्रीचीः) वह साथ विराजमान है, (सः विषूचीः) वह सर्वत्र है, वह (भुवनेषु अन्तः वसानः) भुवनोंके अन्दर बसता हुआ (आ वरीवर्ति) वारंवार आवर्तन करता है ॥ ११ ॥

भावार्थ- मनुष्योंके शरीरमें एक जीव है, जो स्थिर है तथापि चलानेवाला है यह शीघ्रगति है, और प्राणको भी अपने साथ शरीरमें रखता है। यही जीव इस शरीरमें रहता है। मरे हुए मनुष्यका यह जीव स्वयं अमर है, इसलिए वह अपनी निज शक्तिसे चलता है और दूसरे मर्त्य देहको धारण करनेके लिये किसी योनिमें देह धारण करता है ॥ ८ ॥

इस प्राकृतिक संसारसागरमें यह जीव प्रगति करता है और विशेष कर्म भी करता है। यह जीवात्मा युवा होता हुआ भी यह दूसरे बड़े वृद्ध परमात्माके अन्दर प्रविष्ट होता है। यह उस देवकी काव्यमय शक्ति देखने योग्य है। जो जीव कल जीवित होता है वही आज मरता है [और पश्चात् दूसरा शरीर भी धारण करता है] यह सब उस देव की महिमा है ॥ ९ ॥

जो कर्ममार्गी कर्म करता है, वह इस देवके महत्त्वको नहीं जानता। परंतु जो ज्ञानमार्गी इस देवका साक्षात्कार करता है, उसके नीचे अर्थात् उसके अन्दर ही वह देव उसको दीखता है। यह जीव दूसरा शरीर धारण करनेके लिये जब माताके गर्भमें प्रविष्ट होता है, तब बहुत संतान उत्पन्न करनेवाली प्रकृति उसको घेरती है और इस प्रकार उसको नया शरीर मिलता है ॥ १० ॥

यह जीवात्मा इंद्रियोंका रक्षक है और स्वयं पतनशील नहीं है। यह शरीरमें आता है और शरीरसे दूर भी जाता है वह परमात्मा इसके साथ है, सर्वत्र व्याप्त है और सब पदार्थोंमें विराजमान है ॥ ११ ॥

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १२ ॥
पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥१३॥
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥१४॥
न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥१५॥

अर्थ– (द्यौः नः पिता जनिता) प्रकाशक देव हमारा रक्षक और उत्पादक है, वही (नाभिः) हमारा मध्य है और (नः बन्धुः) हमारा बन्धु है । तथा (इयं मही पृथिवी माता) यह बडी पृथिवी माता है । (उत्तानयोः चम्वोः योनिः अत्र) ऊपर चौडे मुखवाले इन दो बर्तनोंका मूल उत्पत्तिस्थान यहां ही है । यहां (पिता दुहितुः गर्भं आधात्) पालक दूर स्थित प्रकृतिमें गर्भकी स्थापना करता है ॥ १२ ॥

(पृथिव्याः परं अन्तः त्वा पृच्छामि) पृथ्वीका परला अन्त कौनसा है यह मैं तुझे पूछता हूं । (वृष्णः अश्वस्य रेतः पृच्छामि) बलवान अश्वके वीर्यके विषयमें मैं पूछता हूं । (विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि) सब भुवनके केन्द्रके विषयमें पूछता हूं । (वाचः परमं व्योम पृच्छामि) वाणीका परम आकाश अर्थात् उत्पत्तिस्थान पूछता हूं ॥ १३ ॥

(इयं वेदिः पृथिव्याः परः अन्तः) यह वेदी भूमिका परला अन्त भाग है । (अयं सोमः वृष्णः अश्वस्य रेतः) यह सोम बलवान अश्वका वीर्य है । (अयं यज्ञः विश्वस्य भुवनस्य नाभिः) यह यज्ञ सब भुवनोंका मध्य है । और (अयं ब्रह्मा वाचः परमं व्योम) वह ब्रह्मा वाणीका परम स्थान है ॥ १४ ॥

(न विजानामि यत् इव इदं अस्मि) मैं नहीं जानता कि मैं किसके सदृश हूं । (निण्यः संनद्धः मनसा चरामि) अंदर बंधा हुआ मैं मनसे चलता हूं । (यदा ऋतस्य प्रथमजाः मा अगन्) जब सत्यका पहिला प्रवर्तक मेरे समीप आगया, (आत् इत् अस्याः वाचः भागं अश्नुवे) उसी समय इसके वाणीके भागको मैंने प्राप्त किया ॥ १५ ॥

भावार्थ–वह परमात्मा द्यु अर्थात् सूर्यके समान प्रकाशमान है, वही हम सबका पिता,जनक,बन्धु,और केन्द्र है। यह पृथ्वी अर्थात् प्रकृति हमारी बडी माता है । यह पिता इस दुहिता रूपी प्रकृतिमें गर्भका आधान करता है जिससे सब सृष्टि उत्पन्न होती है । इन दोनों प्रकृति पुरुषमें सबका उत्पत्ति स्थान है ॥ १२ ॥

इस पृथ्वीका परला अन्तिम भाग कौनसा है ? बलवान् अश्वका वीर्य कौनसा है ? संपूर्ण जगत्का केन्द्र कौनसा है ? और वाणीका परम उत्पत्तिस्थान कौनसा है ? ॥ १३ ॥

यही यज्ञकी वेदी इस भूमिका परला अन्तभाग है । बलवान् अश्वका वीर्य यह सोम है । यज्ञ ही सब जगत् का केन्द्र है और यह ब्रह्मा–आत्मा–ही वाणीका परम उत्पत्तिस्थान है ॥ १४ ॥

यह आत्मा किसके समान है यह विदित नहीं है । यह आत्मा इस शरीरमें बद्ध होकर रहा है परंतु मनसे बडी हलचल करता है। जिस समय सत्यधर्मका पहिला प्रवर्तक परमात्माको प्राप्त होता है, उसी समय इस दिव्य मंत्रकी वाणीका भाग्य इसको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥१६॥
सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥ १७ ॥
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते ॥१८॥
ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत् ।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ १९ ॥

अर्थ— (अमर्त्यः मर्त्येन सयोनिः) अमर आत्मा मरणधर्मवाले शरीरके साथ एक उत्पत्तिस्थानमें प्राप्त होकर (स्वधया गृभीतः अपाङ् प्राङ् एति) अपनी धारणा शक्तिसे युक्त होकर नीचे तथा ऊपर जाता है। [ता शश्वन्ता विषू—चीना) वे दोनों शाश्वत रहनेवाले, विविध गतिवाले परंतु (वियन्ता) विरुद्ध गतिवाले हैं उनमेंसे (अन्यं निचिक्युः) एकको जानते हैं और (अन्यं न निचिक्युः) दूसरेको नहीं जानते ॥ १६ ॥

(भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः) सब भुवनोंका वीर्य सात अर्ध गर्भमें परिणत होकर (विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि तिष्ठन्ति) व्यापक देवकी आज्ञामें रहकर विशेष गुणधर्मोंमें ठहरते हैं। (ते धीतिभिः मनसा) वे बुद्धि और मनसे युक्त होकर तथा (ते विपश्चितः परिभुवः) वे ज्ञानी और सर्वत्र उपस्थित होकर (विश्वतः परिभवान्ति) सब ओरसे घेरते हैं ॥ १७ ॥

(परमे व्योमन्) परम आकाशमें उत्पन्न होनेवाले (यस्मिन् ऋचः अक्षरे) जिस मंत्रके अक्षरमें (विश्वे देवाः अधि-निषेदुः) सब देव निवास करते हैं, (यः तत् न वेद) जो यह बात नहीं जानता वह (ऋचा किं करिष्यति) वेद मंत्र लेकर क्या करेगा ! (ये इत् तत् विदुः ते इमे समासते) जो निश्चय से उसको जानते हैं वे ये उत्तम स्थानमें बैठते हैं ॥ १८ ॥

(ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तः) मंत्रके पदको मात्रासे समर्थ बनाते हैं। (अर्धर्चेन एजत् विश्वं चाक्लृपुः) आधे मंत्रसे चलनेवाले जगतको समर्थ करते हैं। इस प्रकार (त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तस्थे) तीन पादोंवाला ज्ञान बहुतरूपोंसे ठहरा है। (तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति) उसीसे चारों दिशाएं जीवित रहती हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ- यह आत्मा अमर है। तथापि मरण धर्मवाले शरीरके साथ रहनेके कारण विविध योनियोंमें जन्मता है। यह अपनी धारक शक्तिके साथ ही शरीरमें आता अथवा शरीरसे पृथक् होता है। ये दोनों शाश्वत हैं और गतिमान भी हैं, तथापि उनकी गतियोंमें अन्तर है। उनमेंसे एक को जानते हैं. परंतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता है ॥ १६ ॥

सब बने हुए पदार्थोंका मूल बीज सात तत्त्वोंमें है। ये सातों मूल तत्त्व व्यापक परमात्माकी आज्ञामें कार्य करते हैं। ज्ञानी लोग मनसे इस ज्ञानको प्राप्त करके सर्वत्र उपस्थित होनेके समान ज्ञानवान् होते हैं। ॥ १७ ॥

इस बडे आकाशमें शब्द उत्पन्न होता है, उस शब्दसे बननेवाली ऋचाके अक्षरमें अनेक देवताओंका निवास होता है। जो मनुष्य इस बातको नहीं जानता, वह केवल मंत्रको लेकर क्या करेगा ? परंतु जो इस तत्त्वको जानते हैं, वे परम पदमें जाकर विराजमान होते हैं ॥ १८ ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ २० ॥ (२७)
गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा
अधि वि क्षरन्ति ॥ २१ ॥
कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
ते आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्युद्दुः ॥ २२ ॥
अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति ॥२३॥

अर्थ-हे (अघ्न्ये) न मारने योग्य गौ! तू [सु-यवस-अद् भगवती हि भूयाः] उत्तम घास खानेवाली भाग्यशालिनी हो। [अधा वयं भगवन्तः स्याम] और हम भाग्यवान् होंगे। [विश्वदानीं तृणं अद्धि] सर्वदा तृण भक्षण कर और [आचरन्ती शुद्धं उदकं पिब] भ्रमण करती हुई शुद्ध जल पी ॥ २० ॥

(गौः इत् सलिलानि तक्षती) गौ निश्चयसे जलोंको हिलाती हुई (मिमाय) शब्द करती है। (सा एकपदी द्विपदी चतुष्पदी) वह एक पादवाली, दो पादवाली, चार पादवाली, (अष्टापदी नवपदी) आठ पादवाली, नौ पादवाली (बभूवुषी) बहुत होनेकी इच्छा करनेवाली [सहस्र अक्षरा] हजारों अक्षरोंवाली[भुवनस्य पंक्तिः] भुवनकी पंक्ति है। (तस्याः समुद्राः अधि विक्षरन्ति) उससे सब समुद्रके रस बहते हैं ॥ २१ ॥

[अपः वसानाः] जलको अपने साथ लेते हुए [सुपर्णाः हरयः] उत्तम गतिशील सूर्यकिरण, (कृष्णं नियानं दिवं] सबका आकर्षण करनेवाले सबके यान रूप सूर्यको (उत्पतंति) चढते हैं। (ते ऋतस्य सदनात्) वे जलके स्थानरूप अन्तरिक्षसे (आववृत्रन्) नीचे आते हैं (आत् इत् घृतेन पृथिवीं वि उद्दुः) और जलसे भूमिको भिगोते हैं ॥ २२ ॥

(पद्वतीनां प्रथमा अपात् एति) पांववाली प्राकृत मूर्तियोंमें सबसे प्रथम स्थानमें रहनेवाली शक्ति पादरहित है। हे मित्र और वरुणो! [वां कः तत् चिकेत] तुम दोनोंमेंसे कौन उसको जानता है? (गर्भः अस्याः भारं आभरति चित्).गर्भमें रहनेवाला इस प्रकृति का भार उठाता है। वही [ऋतं पिपर्ति] सत्यकी पूर्णता करता है और [अनृतं नि पाति] असत्यका नाश करता है ॥ २३ ॥

भावार्थ- मंत्रोंके पाद मात्राओंकी संख्यासे गिनते हैं। इस मंत्रके आधे भागसे भी संपूर्ण चेतन और विश्व सामर्थ्यवान् बनता है। यह त्रिपाद ब्रह्म अनेक रूपोंमें ठहरा है और इसीसे चारों दिशाउपदिशाओंका जीवन होता है ॥ १९ ॥

हे अवध्य वाक्रूपी गौ! तू अर्थात् तुम्हारा प्रयुक्तकर्ता वक्ता उत्तम सात्विक अन्नसे उत्तम भाग्ययुक्त होवे और तेरे भाग्यसे हम भी भाग्ययुक्त बनें। सर्वदा शुद्ध अन्न और जलका सेवन कर ॥ २० ॥

यह वाक्रूपी गौ अर्थात् काव्यमयी वाक् एक, दो, चार, आठ अथवा नौ पदोंवाले छन्दोंमें विभक्त हुई है यह अनेक प्रकारकी है और हजार अक्षरोंतक इसकी मर्यादा है। यह मानो सब भुवनोंको पूर्ण करनेवाली है और इससे विविध रस बहते हैं ॥ २१ ॥

सूर्यकिरण अपने साथ जलको उठाते हैं वह जल उनके साथ ऊपर मेघमंडलमें पहुंचता है, वहांसे फिर वृष्टिद्वारा वह नीचे आता है और भूमिको भिगाता है ॥ २२ ॥

विराड् वाग् विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः ।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं भव्यं वशे
स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु ॥ २४ ॥

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥ २५ ॥

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एकएषाम् ।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥२६॥

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥२७॥

अर्थ-विराट् वाणी, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रजापति और मृत्यु है । वही विराट् [साध्यानां अधिराजः बभूव]साध्योंका अधिराजा है । (तस्य वशे भूतं भव्यं) उसके आधीन भूत और भविष्य है । (सः मे वशे भूतं भव्यं कृणोतु) वह मेरे आधीन भूत और भविष्य करे ॥ २४ ॥

(विषूवता परः आरात् अवरेण) अनेक रूपोंसे बहुत दूर और पास भी (एना शकमयं धूमं अपश्यं) इस शक्ति-वाले धूमको मैंने देखा । वहां (वीराः पृश्निं उक्षाणं अपचन्त) वीर छोटे उक्षाको परिपक्व बना रहे थे । [तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्] वे धर्म प्रथम थे ॥ २५ ॥

(त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते) तीन किरणवाले पदार्थ ऋतुके अनुसार दिखाई देते हैं। [एषां एकः संवत्सरे वपते) इनमें से एक वर्षमें एकबार उपजता है । [अन्यः शचीभिः विश्वं अभिचष्टे] दूसरा शक्तियोंसे विश्वको प्रकाशित करता है (एकस्य ध्राजिः ददृशे) एककी गति दीखती है परंतु उसका [रूपं न] रूप नहीं दीखता ॥ २६ ॥

[वाक् चत्वारि पदानि परिमिता] वाणीके चार स्थान परिमित हुए हैं । (ये मनीषिणः ब्राह्मणाः) जो ज्ञानी ब्राह्मण हैं वे [तानि विदुः] उनको जानते हैं । उनमेंसे (त्रीणि गुहा निहिता) तीन गुप्त स्थानमें रखे हैं वे [न इंगयन्ति] नहीं प्रकट होते । [मनुष्याः वाचः तुरीयं वदन्ति] मनुष्य वाणीके चतुर्थ रूपको बोलते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ-पांववाले शरीरोंका चालक पांवरहित आत्मा है । कौन इस चालक आत्माको जानता है ? वह चालक आत्मा इस-स्थूल का सब भार वहन करता है और सत्यकी रक्षा करके असत्यका नाश करता है ॥ २३ ॥

इस विराट् आत्माका रूप वाणी, भूमि, अन्तरिक्ष, प्रजापालक, और प्रजासंहारक मृत्यु भी है । यह सबका राजाधिराज है और इसीके आधीन सब भूत भविष्य वर्तमान है । वह मेरे आधीन सब भूत भविष्य वर्तमानको करे ॥ २४ ॥

पास और बहुत दूर भी मैंने धूवेंको देखा और उससे अग्निका अनुमान किया। उसी अग्निपर वीर लोग छोटे उक्षाको परि-पक्व बनाते हैं । ये यज्ञकर्म सबसे प्रारंभमें होते थे ॥ २५ ॥

तीन देव किरणोंवाले अर्थात् प्रकाशमान हैं । इनमेंसे एक वर्षमें एक समय प्रकाशता है, दूसरा अपनी निज शक्तियोंसे सब विश्वको प्रकाशित करता है और तीसरेकी केवल गति प्रतीत होती है परंतु उसका रूप नहीं दिखाई देता ॥ २६ ॥

वाणीके चार स्थान हैं इनको मननशील ब्रह्मज्ञानी जानते हैं, इनमेंसे तीन स्थान हृदयमें गुप्त हैं और जो मनुष्य बोलते हैं वह चतुर्थ स्थानमें उत्पन्न व्यक्त वाणी है ॥ २७ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ २८ ॥(२८)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

॥ नवमं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ- [एकं सत्] एक सत् वस्तु है उसीका [विप्राः बहुधा वदन्ति] ज्ञानी लोग अनेक प्रकार वर्णन करते हैं । उसी एकको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुवर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा [अथो आहुः] कहते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ- सत्य तत्त्व केवल एक ही है, परंतु ज्ञानी लोग उसी एक सत्य तत्त्वका वर्णन गुणबोधक अनेक नामोंसे करते हैं । उसी एक सत्य तत्त्वको वे इन्द्र, मित्र, वरुण आदि भिन्न भिन्न नाम देते हैं ॥ २८ ॥

छन्दोंका महत्त्व ।

वाणी और गोरक्षण ।

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती आदि सात छंद मुख्य हैं । इनके भेद और बहुत ही हैं । इन सात छन्दोंमें वेदका ज्ञान भरा रखा है, इसीलिए कहा है कि अज्ञानका आच्छादन करके ज्ञानका प्रकाशन करनेवाले ये छन्द हैं । इन छन्दोंमें किस प्रकारका ज्ञान है इस विषयमें थोडासा विवरण प्रथम मंत्रमें है । उसमें कहा है-

(गायत्रे गाय-त्रं) गायत्री छन्दमें (गाय) प्राणोंकी (त्रं) रक्षा करनेका ज्ञान है । जो लोग गायत्री छंदवाले मंत्रोंका उत्तम अध्ययन करेंगे, वे प्राणरक्षा करनेकी विद्या उत्तम रीतिसे जान सकते हैं । (त्रैष्टुभात्) त्रिष्टुप् छन्दमें (त्रै-ष्टुभं) तीनोंका अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्माका गुणवर्णन है, इस कारण जो लोग त्रिष्टुप् छन्दोंवाले मंत्रोंका उत्तम अध्ययन करेंगे उनको प्रकृतिविद्या आत्मविद्या और ब्रह्मविद्याका ज्ञान हो सकता है और वे प्रकृतिविद्यासे ऐहिक सुख और आत्मविद्यासे अमृतत्वकी प्राप्ति कर सकते हैं । इस प्रकार यह वेदमंत्रोंकी विद्या इहपरलोकके सुखका साधन होती है ।

(जगति जगत्) जगति छन्दमें जगत् संबंधी अद्भुत ज्ञान भरा है । जो ज्ञान प्राप्त करनेसे मनुष्य इस जगत्में विजयी हो सकता है । इसीलिए इसी मंत्रमें आगे कहा है कि—

य इदं तद् विदुः ते अमृतत्वं मानशुः । (मं० १)

" जो ज्ञानी इस ज्ञानको-इस वैदिक ज्ञानको-यथावत् जानते हैं, वे अमृतको अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं ।" उक्त प्रकार छंदोविद्याको जाननेवाले मोक्षके अधिकारी होते हैं । इसका अर्थ यह नहीं है कि वे केवल मोक्षके ही अधिकारी हैं और इस जगत् की उन्नतिको वे नहीं प्राप्त कर सकते, प्रत्युत वे जागतिक उन्नतिको जैसे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार आत्मिक उन्नतिको भी वे प्राप्त होते हैं । जो मोक्षके अथवा अमृतत्वके अधिकारी होते हैं वे सामान्य भौतिक उन्नतिको प्राप्त कर सकते हैं यह कहनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं । क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान्, राजा जनक, श्रीरामचन्द्र आदि मुक्त पुरुष इह लोकका व्यवहार करनेमें भी उत्तम दक्ष थे और उन्होंने ऐहिक व्यवहार उत्तम तरह किये थे। और ये तो अमृतत्वके अधिकारी थे इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं है । इस प्रकार इस वेदमंत्रोंके ज्ञानको प्राप्त करनेवाले मनुष्य इह परलोकमें परमोच्च गतिको प्राप्त कर सकते हैं । प्रत्येक मनुष्य जो इस भूलोकमें देहधारण करके आया है वह अमरत्व प्राप्त करनेके लिये ही है । इसीलिए कहा जाता है कि वेदका ज्ञान प्रत्येक मनुष्यके लिये उन्नतिका मार्ग बतानेमें समर्थ है ।

(गायत्रेण अर्कं प्रतिमिमीते) गायत्री छन्दसे अर्चनीय देवकी शब्दरूपी प्रतिमा निर्माण की है । प्रत्येक मनुष्यको जिस एक अद्वितीय देवकी अर्चा करनी अत्यंत आवश्यक है, उस देवकी वस्तुतः प्रतिमा तो नहीं है, परंतु उसकी शब्दमयी प्रतिमा 'गायत्री छंद' है । इस कारण पाठक यदि किसी स्थानपर परमात्म देवकी प्रतिमा देख सकते हैं तो वे इस छन्दमें ही देख सकते हैं ।

(अर्केण साम) इस अर्चनीय अर्थात् पूजनीय देवकी सहायतासे ' साम ' अर्थात् शान्ति प्राप्त होती है । इस शान्तिका दूसरा नाम ' अमृत ' है । अमृत और साम एक ही अवस्थाके वाचक शब्द हैं अस्तु । इसी तरह त्रिष्टुप् छन्दसे भी वर्णनीय देवता का वर्णन किया जाता है। त्रिष्टुभ छन्दकी वाणी उसीका वर्णन करती है । पूर्व मंत्रमें कहा है कि त्रिष्टुप् छंन्दसे प्रकृति, जीव और परमात्माका वर्णन होता है, वही बात यहां इस मंत्रमें अनुसंधेय है । इस प्रकार-

सात छन्द ।

द्विपदा चतुष्पदा सप्तवाणीः अक्षरेण मिमते । (मं० २)

" दो चरण और चार चरणोंवाले जो सात छन्द हैं, उनके प्रत्येक चरणमें अक्षर संख्याका परिणाम अक्षरोंकी संख्याकी गिनती करनेसे ही होता है ।" जैसा अनुष्टुभमें चरणमें आठ अक्षर, इसी प्रकार अन्यान्य छन्दोके पादोंमें अन्य संख्या अक्षरोंकी होती है । इस प्रकार अक्षर संख्याकी न्यूनाधिकतासे ये छन्द होते हैं ।

(गायत्रस्य तिस्रः समिधः) गायत्री छन्दके पाद तीन हैं । प्रत्येकमें अक्षर आठ होते हैं । जगती छंदसे जगतका वर्णन है यह बात प्रथम मंत्रमें कही है, वही फिर इस तृतीय मंत्रमें दुहराते हैं और कहते हैं कि (जगता दिवि सिंधुं अस्कभायत्) जगति छन्दसे मानो द्युलोकमें महासागरको फैला रखा है । अर्थात् जैसा महासागरका वर्णन होता है वैसा ही द्युलोकका वर्णन किया है । इस महासागर में ये नक्षत्र छोटे छोटे द्वीपोंके समान हैं इत्यादि आलंकारिक वर्णन यहां समझना उचित है ।

इसी प्रकार (रथंतरेण सूर्यं पर्यपश्यत्) रथन्तर से सूर्यका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है । क्योंकि उसमें यह वर्णन अतिस्पष्ट है । इस ज्ञानकी (महा महित्वा) महता क्या कथन करनी है, यह ज्ञान तो मनुष्यको अन्तिम मंजलतक पहुंचा देता है । यह ज्ञान तो मनुष्यको इस जगत्में और उस स्वर्गमें और अन्तमें मोक्षतक उत्तम मार्गदर्शक होता है । अतः यही वेदमंत्रोंका ज्ञान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है ।

सुहस्त गोरक्षक ।

जिस प्रकार (सुहस्तः सुदुघां धेनुं उपह्वये) उत्तम हाथवाला उत्तम दोहन करने योग्य धेनुको पुकारता है, उसी प्रकार मनुष्य इस वेदवाणीरूपी कामधेनुको अपने पास बुलावे । गायका दूध निचोडनेवाला 'सुहस्त' अर्थात् उत्तम प्रेमपूर्ण हाथवाला होना चाहिये । 'दुर्हस्त' नहीं होना चाहिये । दुर्हस्त मनुष्य वह है कि जो गौको कष्ट पहुंचाता है, ऐसा दुर्हस्त मनुष्य कभी गायको अपने पास न बुलावे । परंतु जो हाथ सदा गायकी सेवाके लिये तत्पर रहता है, गायका प्रिय करनेमें जो दक्ष है, वही मनुष्य गायको बुलावे । गौ अवध्य होनेसे गायके साथ किसी प्रकार भी 'दुर्हस्त'का संबंध नहीं आना चाहिये । 'सुहस्त' होकर ही मनुष्य गायके पास आवे, यह वेदका उपदेश स्पष्टतासे कहता है कि 'गोरक्षण' करना मनुष्यका वेदोक्त धर्म है । जो प्रेमसे गोपालन करता है वही सच्चा वैदिकधर्मी है, क्योंकि गौ' नाम जैसा गायका वाचक है वैसा ही वह 'वेदवाणी' का भी वाचक है । अतः 'गोरक्षा' का अर्थ ' गायकी रक्षा' और ' वेदज्ञानकी रक्षा ' है इसलिये कहा जाता है कि गोरक्षक ही वैदिक धर्मी हो सकता है ।

(गोधुक् एनां दोहत) गायका दोहन करनेवाला इस गौका और इस वेदवाणीका दोहन करें । गौका दोहन करनेसे अमृत रूपी दूध प्राप्त होता है और वेदवाणीरूपी वाग्गौका दोहन करनेसे अमृत जैसा ज्ञान प्राप्त होता है । गायके दूधसे जैसा यज्ञ होता है, वैसा ही वेदज्ञानसे भी होता है । यहां यज्ञ करनेके दोनों साधन हैं । इसीलिये कहा है कि (तत् धर्मः सुप्रवोचत्) यज्ञका ही ये मंत्र वर्णन करते हैं । वेदवाणीरूपी गौ अपने ज्ञानसे यज्ञ का मार्ग बता रही है और यह गौ अपने दूध से यज्ञ करती है । इस तरह दोनों गौवोंकी समानता है ।

(वसूनां वसुपत्नी) यह गौ-वेदवाणी और गोमाता-वसुओंकी पालनेहारी है । वसु नाम ऐश्वर्यका वाचक है । सब प्रकारके ऐश्वर्य ज्ञानसे और बलसे ही प्राप्त होते हैं । वेदवाणीरूपी गौसे ज्ञान मिलता और गोमातासे पोषक अन्न मिलता है । इस प्रकार ये दोनों गौवें ऐश्वर्योंका प्रदान करती हैं । जिस प्रकार यह गोमाता अपने (वत्सं इच्छन्ती) बछडेकी इच्छा करती हुई घरमें आती है, उसी प्रकार यह वेदवाणी भी इस भूमंडलपर इसलिए अवतीर्ण होगई है कि ये अनन्त मानवजीव इस ज्ञानामृतका पान

*

करें और अमर बनें। इस प्रकार दोनों गौवोंमें अपने बछडोंके पालन पोषणकी इच्छा है। ये गौवें (महते सौभगाय वर्धतां) हमारा बडा सौभाग्य बढावें। ये तो बढाती ही हैं। परंतु मनुष्योंको उचित है कि वे उन गौवोंके पास जावें और उनका अमृत रस पीवें और पुष्ट होवें। ये गौवें तो हमारा कल्याण करनेके लिए तैयार हैं, परंतु मनुष्य ही ऐसे मंदमती हैं, कि वे गौका दूध नहीं पीते और भैंसके पीछे लगते हैं, इसी तरह वेदवाणीकी शरण नहीं लेते, प्रत्युत किसी अन्य मतवाले ग्रंथोंकी शरणमें जाते हैं और भ्रममें फंसते हैं। अतः यहां उपदेश सब मनुष्योंको लेना चाहिये कि जो मनुष्य उन्नति चाहता है वह गौका दूध पीवे और वेदका उपदेश ग्रहण करे।

गाय भी (गौः मिषन्तं वत्सं अमीमेत्) अपने उत्सुक बछडेपर ही प्रेम कर सकती है। यदि प्रेमसे बच्चा माताके पास न गया अथवा कुछ पेटकी अस्वस्थतासे वह दूध न पीता रहा, तो माता क्या करेगी? इसलिये बच्चेमें उत्सुकता चाहिये। जिस बच्चोंका पेट ठीक है, भूख अच्छी लगती है और जिसकी पाचनशक्ति ठीक है उसी बच्चोंको माताके दूधसे लाभ होता है। इसी प्रकार वेदवाणीरूपी गौभी उत्सुक शिष्यको ही लाभ पहुंचा सकती है। जो मनुष्य वेद न पढे, पढनेपर उसके समझनेका कष्ट न उठावे, समझनेपर अनुष्ठान न करे, अनुष्ठान करनेके समय तत्पर न होवे, उसको वेदवाणीरूपी गौसे क्या लाभ होगा। इस प्रकार मुमुक्षु होना भी आवश्यक है। यह गौ (पयोभिः मायुं अभिमिमीते) अपने दूधके साथ प्रकाशको फैलाती है, यह बात स्पष्ट है क्योंकि सबेरे गोदोहन होते ही सूर्योदय होता है और विश्वमें सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश होता है। वेदवाणीरूपी गौभी अपना ज्ञानामृत देती है और ज्ञानका ही प्रकाश उपासकके मनमें फैलाती है। इस प्रकार दोनों स्थानमें दूधको देना और प्रकाशको फैलाना समान है।

गौकी सहायता।

यह गौ (ध्वसनौ अधिश्रिता) विनाशके समय आश्रय करने योग्य है। रोग क्षीणता अपचन आदिके समय गायका दूध ही अमृतके समान है। रोगी होनेके समय अथवा बालक होनेके समय भी गायका दूध ही लाभप्रद है। इसी तरह उदासी होनेसे जगत्का नाश होनेके पश्चात् जो मोक्षमार्गका मार्ग आक्रमण करना है, उस समय वेदरूपी गौ ही आश्रय की जाती है। वहां वेदके मंत्र ही (मायुं मिमाति) मार्गमें दीप जैसे सहायक होते हैं। (सा चित्तिभिः मर्त्यान् निचक्रार) वह गौ मनुष्योंमें चिन्तन मनन शक्तियोंसे सहायक होती है। अर्थात् गायके दूधसे मनुष्योंकी बुद्धि तीव्र और सूक्ष्म होती है और मनुष्य बुद्धिमान होता है। वेद रूपी गौसे भी मनुष्य मनन कर सकता है। मनन शक्ति बढानेके कारण ही छन्दको मंत्र कहा जाता है। इस प्रकार दोनों स्थानोंमें गौ मनन शक्तियोंसे मनुष्यकी साथ करती है। (विद्युत् भवन्ती) वह बिजली जैसी होती है। जिस प्रकार बिजली वेग बढाती है, उसी प्रकार गौके दूधसे भी मनुष्यमें फूर्ती आती है और वेदज्ञानसे बुद्धिकी तीव्रता बढती है। विद्युत्के समान प्रकाश किंवा तेज बढानेका कार्य दोनों गौवोंसे होता है।

यहांतक सात मंत्रोंमें गौ और वेदवाणीका एक जैसा वर्णन किया है और आगे २० और २१ इन दो मंत्रोंमें ऐसा ही वर्णन है। अतः विषय सादृश्यके कारण ये दो मंत्र यहां देखते हैं—

यह गौ (सु—यवस—अद्) उत्तम जौ खानेवाली होनेसे (भगवती भूयाः) भाग्यवानी होती है। यदि वह अन्यान्य पदार्थ खाने लगी तो उसका दूध वैसा हितकर नहीं होता। वेदवाणीरूपी गौके पक्षमें भी जौ भक्षण करनेसे भी वर्णोच्चार उत्तम शुद्ध होता है। यहां भी देखा गया है कि जौ और चावल खानेवाले वर्णोच्चारण ठीक कर सकते हैं और उत्तम सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धिवाले भी होते हैं। इसी रीतिसे हम—

अधा वयं भगवन्तः स्याम। (मं ३०)

"इससे हम भी भाग्यवान् बनें।" अर्थात् हम भी जौका अन्न खाकर बुद्धिमान बनें और गौ भी जौका भक्षण करके उत्तम दूध देनेवाली हो। जौ का घास गौ खाय और मनुष्य जौका आटा अर्थात् सत्तू खावें। श्रावणी उत्सवके समय सत्तू भक्षण आवश्यक कहा है और सूचित किया है कि यह शुद्ध और सात्विक अन्न है। वेदमें भी (सक्तुमिव तितउना पुनन्तः ऋ० १० । ७१ । २) इत्यादि मंत्रोंमें सत्तुका अन्न ही निर्दिष्ट है। इससे इस अन्नका महत्व स्पष्ट हो जाता है। गौ जौका घास

(तृणं आदि) खावे और (शुद्धं उदकं पिब) शुद्ध निर्मल जल पीवे । मनुष्यको भी शुद्ध सत्तु खाना और छाना हुआ वस्त्रपूत जल पीना योग्य है । इस प्रकार गौ और वाणीका एक ही पथ्य है । मनुष्यका खानपान सात्विक होनेसे उसकी वाणी पवित्र होती है, यह यहां तात्पर्य है । मनुष्य जिस गौका दूध पीते हैं वह गौ भी उक्त पदार्थ ही खावे और अन्य अमेध्य पदार्थोंका भक्षण न करे । इस विचारसे पता लग सकता है कि बाजारोंमें जो दूध प्राप्त होता है वह दूध अमृत नहीं है, प्रत्युत घरमें गौ पाली जाय, उसको मेध्य पदार्थ खिलाये जाय और शुद्ध उदक पिलाया जाय, तब उसका दूध ' अमृत ' पदवीको प्राप्त हो सकता है । वेद जिस प्रकार गोरक्षण करना चाहता है वह विधि यह है । पाठक विचारें और समझें कि वेदमें गोरक्षणका विधि कैसा है ।

आगेके मंत्रमें (गौ सलिलानि तक्षति) गौ जलोंको हिलाती है ऐसा कहा है,गौ शुद्ध जलमें प्रविष्ट होनेसे जल हिलने लगता है यह शुद्ध जल गौ पीती है और तृप्त होती है । यह सामान्य वर्णन करके यह गौ (एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी सहस्राक्षरा) एक दो चार आठ नौ पाववाली है और सहस्र अक्षरोंसे युक्त है ऐसा जो कहा है वह स्पष्टतया वेदवाणी का ही केवल वर्णन है । वेदके छंद एक चरणवाले, दो चरणोंवाले, आठ चरणोंवाले नौ चरणोंवाले और सहस्र अक्षरोंवाले हैं। क्योंकि गाय सदा चतुष्पाद अर्थात् चार चरणोंवाली ही होती है, और कभी आठ नौ पाववाली नहीं होती । चरण और पाद ये नाम मंत्रोंके भागोंके हैं । इसलिये यह मंत्रभाग वेदवाणी रूपी गौका ही वर्णन कर रहा है । यह वेदवाणी रूपी गौ (सहस्र-अक्षरा) हजारों अक्षय अमृत धाराओंको प्रदान करती है और (भुवनस्य पंक्तिः) सब भुवनोंको पूर्णतया पावन करती है, और (तस्याः समुद्राः अधि विक्षरन्ति)इससे समुद्रके समान रसप्रवाह पर्याप्त प्रमाणमें लोगोंको प्राप्त होते हैं । इसलिये मनुष्यों को उचित है कि वे इस वेदवाणी रूपी गौका ज्ञानामृत प्राशन करें और मोक्षमार्गपर चलकर अमरत्व प्राप्त करें ।

यहांतक गौके वर्णनके मिषसे— अर्थात् गोरक्षणके मिषसे वेदज्ञानका महत्त्व वर्णन किया है । आगे यह ज्ञान मनुष्यको उन्नतिके पथमें चलानेमें किस तरह सहायक होता है यह देखिए-

जीवात्मा ।

प्राणियोंके शरीरमें जीवात्मा है और वही यहांका जीवनका कार्य करता है इस विषयमें अष्टममंत्रका विधान देखिए—

पस्त्यानां मध्ये ध्रुवं एजत् जीवं तुरगातु अनत् शये । (मं० ८)

" प्राणियोंके शरीरमें जीवात्मा है अर्थात् स्थिर,चालक,नेगवान, प्राणको चलानेवाला है और वह इस शरीरमें रहता है।" यह शरीरमें शयन करनेवाले जीवात्माका वर्णन है । " पुरुष " शब्दके अर्थका " पुरि शेते इति पुरुषः " शरीररूपी नगरीमें शयन करता है इसलिए इस आत्माको ' पुरुष ' (पुरिशय) कहते हैं ऐसा कहा है वही अर्थ यहां है । इस जीवात्माके विशेषण " ध्रुव, एजत्, जीव,तुरगातु,अनत्"ये विचार करने योग्य हैं । ये विशेषण अन्यत्र भी आगये हैं । जबतक शरीरमें यह जीवात्मा रहता है तबतक उक्त कार्य शरीरमें दिखाई देते हैं । यह शरीरसे भिन्न है अतः शरीर क्षीण और निकम्मा होनेपर शरीरको यह छोड देता है इस विषयमें इसी मंत्रमें कहा है—

मृतस्य जीवः अमर्त्यः स्वधाभिः चरति मर्त्येन सयोनिः (मं० ८)

अमर्त्यः मर्त्येन सयोनिः अपाङ् प्राङ् एति । (मं० १५)

"मृत मनुष्यका जीव वास्तविक रीतिसे अमर है,वह अपनी निज शक्तियोंसे कार्य करता है और इस देहके छोड देनेके बाद दूसरे मर्त्य देहके साथ संयुक्त होता है।"मनुष्यदेह मरनेवाला है,परंतु उसका आत्मा अमर है,अर्थात् देह भिन्न है और आत्मा भिन्न है । इन दो परस्पर भिन्न पदार्थोंका संयोग किसी कारण वश होगया है । इसी संबंधके कारणका विचार करना इस तत्त्वज्ञान-का मुख्य प्रयोजन है । (मृतस्य जीवः अमर्त्यः) मरे हुए प्राणीका जीवात्मा अमर है, यह महासिद्धान्त सदा स्मरण रखना चाहिये । यदि जीवात्मा अमर है तो वह देहप्राप्तिके पूर्व और देहपातके पश्चात् भी रहेगा । देहके मरनेसे न मरेगा और देहके जन्मसे न जन्मेगा । यह जीव अपनी निजशक्तियोंसे रहता है । इसकी यह (स्व-धा) निज शक्ति है अतः यह सदा इसके साथ रहती है और कभी दूर नहीं होती । परंतु शरीरकी शक्ति अन्नादि पदार्थों पर अवलंबित है । इसलिये शरीरकी शक्तियोंको 'स्वधा' नहीं कहते । आत्माकी शक्तिका नाम 'स्वधा' है क्योंकि किसी बाह्य कारणपर यह अवलंबित नहीं है । शरीर मिला या न-

मिला तो भी वह इसके साथ एक जैसी रहती है। पूर्व शरीर छोडनेपर और दूसरा शरीर प्राप्त होनेतक जैसा आत्मा अपनी निज शक्तियोंके साथ विचरता है, उसी प्रकार शरीरमें आनेपर भी उन्ही शक्तियोंको शरीरमें नियुक्त करके कार्य लेता है। यहां अमर होता हुआ भी (मर्त्येन सयोनिः) मर्त्य शरीरके साथ समान योनिमें आता है। अर्थात् जिस योनिमें जिस जातीके प्राणीमें आत्मा जाता है उस जातिकी योनीमें जाकर उस शरीरको प्राप्त होता है। इस मृत्युलोकका जीवन क्षणभंगुर होता है, क्योंकि शरीर कितनी भी रक्षा करनेपर किसी न किसी समय मर ही जायगा, अतः कहा है—

ह्यः सं आन, सः अद्य ममार। (मं० ९)

" जो कल उत्तम प्रकार जीवित था, वह आज मर जाता है। " आज सवेरे जो जीवित होता है वह शामके समय मर जाता है। इस प्रकार पिता, माता, पुत्र, भाई आदि मर रहे हैं, यह देखकर अपनेको भी किसी न किसी समय मरना अवश्य है ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि यह अपना शरीर मरेगा, तथापि इस शरीरका अधिष्ठाता कदापि मरनेवाला नहीं है, यह अमर है, यह न कभी बाल होता है, और न वृद्ध। यह सदा एक अवस्थामें रहता है इसीलिये इसको (युवानं सन्तं) युवा ऐसा कहते हैं। इस जीवात्माको युवा कहा जाय, तो परमात्माको वृद्ध किंवा पुराण पुरुष कहना योग्य है। इसीका नाम इस मंत्रमें " पलित " अर्थात् श्वेतबाल हुआ वृद्ध कहा है। यह पलित पूर्वोक्त युवाको निगल जाता है। परमात्मा सर्वव्यापक है इसलिये इस एकदेशीय जीवात्माको चारों ओरसे घेरता है इसलिये कहा जाता है कि वह परमात्मा इस जीवात्माको निगल जाता है, अपने पेटमें रखता है। (युवानं संतं पलितः जगार) तरुण को वृद्ध निगल जाता है, इस विधानसे दोनोंके आकारका प्रमाण स्पष्ट होता है। तरुण जीवात्माको वृद्ध परमात्मा निगल जाता है, अतः वह वृद्ध तरुणसे कई गुणा बडा है यह बात स्पष्ट है।

यह जीवात्मा ' विधु है ' अर्थात् कर्मशील है। कर्म करनेवाला है और विविध कर्म करनेके लिये ही शरीर धारण करता है और जब शरीर जीर्ण होनेके कारण कर्म करनेमें असमर्थ होजाता है उस समय यह शरीरको छोडता है और दूसरे समर्थ शरीर धारण करता है। शरीर धारण करनेका हेतु यह है—

सः मातुः योनौ अन्तः परिवीतः बहुप्रजा निर्ऋतिः आविवेश। (मं० १०)

" वह जीवात्मा जब माताकी योनिमें–गर्भाशयमें–होता है उस समय प्राकृतिके शरीरसे परिवेष्टित होता है, और पश्चात् अनुकूल समयमें बहुत प्रजा प्रसवनेहारी इस भूमिपर अथवा इस प्रकृतिमें आविष्ट होकर पृथ्वीपर अवतीर्ण होता है। " यहां विवाहादि द्वारा यह अपने संतानादि बहुत बढाता है, वंशका विस्तार करता है और समय आनेपर मर जाता है। फिर इसको ऐसा ही नवीन शरीर मिल जाता है। यह क्रम वारंवार होता है। यह इसका आना और जाना नियमके अनुसार करनेवाला जो कोई है, उसके नियमको यह नहीं जानता—

यः इं चकार अस्य सः न वेद। (मं० १०)

' जो यह सब करता है, उसके उस कर्तृत्व को यह नहीं जानता। " प्रत्येक मनुष्य इसका विचार करके जान सकते हैं। अपने आपको यहां किसने लाया, भवितव्य कौन नियत करता है, इत्यादि विषय हरएक मनुष्य जान नहीं सकता। परंतु—

यः इं ददर्श तस्मात् हिरुग् इत् नु। (मं० १०)

" जो इसको देखता है अर्थात् इसका साक्षात्कार करता है, उसके नीचे ही –उसके अतिसमीप ही–वह विद्यमान रहता है। " उसके लिये वह समीपसे समीप है। परंतु अन्य मनुष्योंके लिये यह बहुत दूर होता है। अर्थात् इसकी दूरता और समीपता मनुष्यके प्रयत्नपर निर्भर है।

यह जीवात्मा (गो–पां) इंद्रियोंका पालन करनेवाला है, अपने शरीरमें जीवनशक्तिका संचार करके सब शरीरको जीवित रखनेवाला है अतः यह (अनिपद्यमानं) गिरानेवाला है, शरीर जीवित रखनेके कारण यह शरीरको न गिरानेवाला है। शरीर उठानेवाला और चलानेवाला यही जीवात्मा है। " तनू–न–पात् " यह नाम भी इसी अर्थका सूचक है। (तनु) शरीरको (न) नहीं (पात्) गिरानेवाला आत्मा है, यही भाव " अनि–

पद्यमान " शब्दमें है। इतना होनेपर भी—

पथिभिः आ च परा च चरन्तं। (मं० ११)

" निश्चित मार्गोंसे पास और दूर आनेवाला " अर्थात् इस शरीरके पास और शरीरसे दूर आनेवाला यह आत्मा है। जन्म लेनेके समय शरीरके पास आता है और शरीरकी मृत्यु होते ही यह शरीरसे दूर जाता है इस प्रकार इसका पास आना और दूर जाना जिन मार्गोंसे होता है, उन मार्गोंका ज्ञान हमें नहीं हो सकता। वे अदृश्य मार्ग हैं, और परमात्मा ही इसको उन मार्गोंसे चलाता है। यह परमात्मा—

स सध्रीचीः विषूचीः भुवनेषु अन्तः वसानः। (मं० ११)

" वह परमात्मा इस जीवात्माके साथ रहता है, सर्वत्र विराजमान है और संपूर्ण पदार्थमात्रमें भी बसनेवाला वह है। " वह किसी स्थानपर नहीं ऐसा कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक पदार्थ के अन्दर, बाहर और चारों ओर वह विराजमान है, इसलिये वह इस जीवात्माको अपने अन्दर लेकर जहां आनेसे इसका कल्याण होगा वहां इसको पहुंचा देता है।

यही देव (नः पिता जनिता नाभिः बन्धुः) हम सबका पिता, जनक, संबंधी और भाई है। (पृथ्वी माता) यह भूमि हमारी मातृभूमि है। इन पिता और माताकी उपासना हमको करनी चाहिये। उक्त देवसे जो इस प्रकृतिमातामें गर्भका आधान होता है, उससे सब सृष्टिकी रचना होती है।

प्रश्नोत्तर।

आगे तेरहवें और चौदहवें मंत्रमें क्रमशः कुछ प्रश्न और उनके उत्तर आगये हैं, वह मनोरंजक प्रश्नोत्तरका विषय अब देखते हैं—

प्रश्न - पृथिव्याः परं अन्तः पृच्छामि (मं० १३)

उत्तर — इयं वेदिः पृथिव्याः परः अन्तः। (मं० १४)

" पृथ्वीका परला अन्तिम भाग कौनसा है ? यह वेदी ही पृथ्वीका परला अन्तिम भाग है। " यज्ञवेदीके पास खडा होकर एक प्रश्न पूछ रहा है कि पृथ्वीका परला अन्त वह है कि जिसपर हम खडे हैं, परंतु इसका परम अन्त कौनसा है ? यह भूमि कहां समाप्त होगई है ? इस प्रश्नका उत्तर, यह अपने पासका वेदीका भाग ही भूमिकी अन्तिम सीमा यह है। उस उत्तरके देखनेसे पता लगता है कि वेदके अनुसार भूमि गोल-गेंदके समान ही है। यदि यह भूमि फलकके समान होती तो यह उत्तर आना संभव ही नहीं है। यदि भूमि गेंदके समान गोल होगी तभी तो जिस बिंदुमें प्रारंभ होगा उसी बिंदुमें अन्त होनेकी संभावना होगी। पृथ्वी गेंदके समान गोल होनेसे यदि किसी स्थानसे सीधी लकीर खींची जायगी तो उस रेखाका अन्तिम बिन्दु प्रारंभिक बिन्दुमें ही मिल जायगा। इसी नियमको ध्यानमें रखकर उक्त मंत्रमें कहा है इस पृथ्वीका प्रारंभ इस वेदीमें है और अन्तिम भागभी यही वेदी है। पृथ्वीको गेंदके समान गोल माननेपर ही यह बात सिद्ध हो सकती है।

सृष्टिका प्रारंभ यज्ञमें और अन्तभी यज्ञमें हो सकता है। परमेश्वरके यज्ञसे इस सृष्टिका प्रारंभ हुआ है, यज्ञपर ही यह सृष्टि निर्भर है और अन्तमें भी इसकी समाप्ति यज्ञमें ही होगी। इस प्रकार कर्मभूमिका प्रारंभ वेदीमें और अन्त भी यज्ञमें होता है। इस दृष्टिसे भी यह प्रश्नोत्तर विचार करने योग्य है। अब दूसरा प्रश्न देखिये—

अश्वशक्ति।

प्रश्न- कृष्णः अश्वस्य रेतः पृच्छामि। (मं० १३)

उत्तर— अयं सोमः कृष्णः अश्वस्य रेतः। (मं० १४)

" बलवान अश्वका वीर्य कौनसा है ? यह सोम ही बलवान अश्वका वीर्य है। " अश्वसूचक शब्द वीर्य पराक्रम और बलके सूचक हैं। ' वाजीकरण ' शब्दका अर्थ वीर्यवर्धक उपाय है। अश्वशक्ति, अश्वबल, अश्वरेत, अश्ववीर्य शब्द

एक ही अर्थ के वाचक हैं। बलवती अश्वशक्ति किससे प्राप्त होती है यह प्रश्नका आशय है। इसका उत्तर यह है कि " सोम वनस्पति ही अश्वशक्ति है " सोमका अर्थ सोमवल्ली, किंवा वनस्पति है। ये वनस्पति ही अश्ववीर्य देनेमें समर्थ हैं।

यहां वेदने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि, शरीर में अश्ववीर्य बढानेकी इच्छा है तो वनस्पतिके सेवन से ही वह बढ सकता है। क्योंकि सोमादि औषधियोंमें ही (अश्वस्य रेतः) अश्ववीर्य है। जो लोग मांसभक्षणके पक्षमें हैं वे यहां वेदके उपदेशसे बोध लें। वेदमें " सोम " को ही अन्न कहा है, मांसको नहीं। सोमको ही अश्ववीर्य कहा है, मांसको नहीं। जिस वाजीकरणके लिये मनुष्य प्रयत्न करता है वह (वाजी) घोडा केवल घास अर्थात् वनस्पति खाकर ही वाजी बना है, मांस खाकर नहीं बना। अतः स्पष्ट कहा है कि जो बल औषधि वनस्पतिके अन्नमें है,वह मांसमें नहीं है। अतःजो अपना बल बढाना चाहते हैं, वे मांसभक्षण न करें और योग्य वनस्पतियोंका सेवन करके अपना वीर्य बढावें। जो लोग पूछते हैं कि वेदमें मांसभक्षणके लिये अनुकूल संमति है वा प्रतिकूल ? उनको इस प्रश्नोत्तर का विचार करना चाहिये और जानना चाहिये कि, सोमादि औषधियोंका रसरूप अन्न ही वेदानुकूल मनुष्योंको भक्ष्य अन्न है। वेदमें मांसको भक्ष्य अन्न करके भी कहीं कहा नहीं है।

प्रश्न— विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि। (मं० १२)

उत्तर— अयं यज्ञः विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। (मं० १४)

" सब भुवनोंका केन्द्र कौनसा है। यज्ञ ही सब भुवनोंका केन्द्र है। " केन्द्र कहते हैं मध्यबिंदुको, इस मध्यबिंदुपर सब बाह्य रचना रची जाती है। मध्यबिंदुपर ही संपूर्ण चक्रकी स्थिति होती है, यदि मध्यबिंदु अपने स्थानसे च्युत होगया, तो चक्रकी शक्ति नष्ट होजाती है। इसीलिये इस प्रश्नमें पृच्छा की है कि इस विश्वका केन्द्र कौनसा है अर्थात् किस केन्द्रपर यह विश्व रहा है ? उत्तरमें कहा है कि इस विश्वका केन्द्र यज्ञ है। अर्थात् यज्ञपर यह सब विश्व स्थिर रहा है। यज्ञ कम हुआ तो यह विश्व नहीं रहेगा। यज्ञ विधिहीन हुआ तो विश्वकी रचना बिघड जायगी। यह बतानेके लिये यहां कहा है कि इस संपूर्ण विश्वकी स्थिति यज्ञपर है। श्रीमद्भगवद्गीतामें

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्। (भ० गी० ३।१०)

इस यज्ञद्वारा तुम वृद्धिको प्राप्त होवो,वह यज्ञ तुम्हें सब कामना देनेवाला होवे। ऐसा जो कहा है उसका कारण यही है कि वह विश्वकी उन्नतिका केन्द्र है। संपूर्ण वेदोंमें ' यज्ञ ' विषय ही कहा है,इसका भी कारण यह है कि यज्ञ सब विश्वका केन्द्र है,उस केन्द्रको जाननेके लिये सब उत्पन्न हुए हैं। अब अन्तिम प्रश्न देखिये—

प्रश्न— वाचः परमं व्योम पृच्छामि। (मं १३)

उत्तर— अयं ब्रह्मा वाचः परमं व्योम। (मं० १४)

" वाणीका परम आकाश अर्थात् उत्पत्तिस्थान कहां है ? यह ब्रह्मा ही वाणीका परम उत्पत्तिस्थान है। " आकाश का गुण शब्द है और शब्द आकाशसे उत्पन्न होता है। यहां केवल(वाचः व्योम) वाणीका आकाश पूछा नहीं है, प्रत्युत (वाचः परमं व्योम) वाणीका परम आकाश पूछा है। आकाशका भी जो आकाश होगा इसको परम आकाश कहना योग्य है। अग्निका अग्नि, वायुका वायु, और आकाशका आकाश वह परमात्मा ही है। देवका भी देव वही है। उस आत्मासे आकाश की उत्पत्ति है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। (तै० उ० २।१।१)

" उस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ है " और उस आकाशसे शब्द उत्पन्न होता है। अतः शब्दके आकाशका जो उत्पत्तिस्थान है उसका नाम " परम व्योम " है। यह वाणीका मूल उत्पत्तिस्थान और परम आकाश परमात्मा है। इसीलिये कहते हैं कि वेद परमात्माका निश्वसित है, अर्थात् उसीका यह शब्द है। इसी तरह सामान्य शब्द भी आत्माका शब्द है और यही ब्रह्मा वाणीका परम आकाश है। आत्मा बुद्धिसे मिलकर बोलनेकी कामना करता है, व मनको प्रेरणा करता है, मन शारीरिक उष्णताको हिलाता है, वह अग्नि वायुको चलाता है, वह उरसे मुखमें आकर स्थानोंमें आघात करता हुआ अनेक शब्द उत्पन्न करता है। इस प्रकार आत्मासे शब्द उत्पन्न होता है। इसीलिये यहां ब्रह्मा को शब्दका महा आकाश कहा है। यह बात स्मरण में रखना चाहिये और शब्दमें आत्माकी शक्ति है ऐसा मानकर, पवित्र भावना ही शब्दद्वारा उच्चारित करना

चाहिये। और कदापि व्यर्थ शब्दोच्चार करके आत्माकी शक्ति क्षीण नहीं करनी चाहिये। अस्तु। इस प्रकार प्रश्नोत्तरसे ज्ञान इन दो मंत्रोंमें दिया है। इसके अगले मंत्रमें कहा है कि--

न विजानामि यदि इव इदं अस्मि। (मं० १५)

" मैं नहीं जानता कि किसके समान यह मैं हूं। " प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं हूं। परंतु मैं कैसा हूं, किसके समान हूं, मेरा गुण धर्म क्या है, मेरा स्वरूप क्या है, इत्यादि बात कोई नहीं जानता। पढे लिखे और शास्त्र देखनेवाले यह कहते हैं कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है, परंतु यह आत्मा कैसा और कमसे कम किसके सदृश है यह क्वचित् कोई जानते हैं, प्रायः कोई नहीं जानते। इसीलिये इस आत्माको अज्ञेय, अतर्क्य ऐसे शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। यह आत्मा जब शरीरमें आता है, उस समय वह--

निण्यः संनद्धः। (मं० १५)

" अन्दर गुप्त है और बंधा है। " यही इसका बंधन है और इस बंधनसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह आत्मा (निण्यः) गुप्त है, छिपा है, ढंका है, अव्यक्त है और बद्ध है। यह इस आत्माकी स्थिति है। हरएक पाठकको इसका विचार करना चाहिये।

इस आत्माको बंधन कैसा होता है, इसकी मुक्ति कैसी होती है और कौन इसकी मुक्ति कर सकता है, यह विषय तत्त्व-ज्ञानका है। यह विषय इसी मंत्रके उत्तरार्धने इस प्रकार कहा है—

यदा ऋतस्य प्रथमजा अगन्। आत् इत् अस्याः
वाचः भागं अश्नुवे॥ (मं० १५)

" जिस समय सत्यका पहिला प्रवर्तक परमात्मा मेरे सन्मुख हुआ, जब मुझे उसका साक्षात्कार हुआ, उस समय उसकी इस वाणीका-देववाणीका-भाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह एक नियम यहां कहा है। जिस समय परमेश्वर साक्षात्कार होता है, अथवा परम ऋषिका उपदेश होता है, उस समय उसके अन्तःकरणमें सत्य ज्ञानका प्रकाश होता है। यही विद्याका भाग्य है। यह आत्मसाक्षात्कारके विना नहीं हो सकता।

यहां आत्मा शरीर धारण करता है यह ' मर्त्य और अमर्त्य ' का संबंध है। अर्थात् ये दो पदार्थ यहां हैं। मर्त्य अमर्त्य नहीं हो सकता और अमर्त्य मर्त्य नहीं हो सकता।

ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता। अन्यं नि चिक्युः।
अन्यं न निचिक्युः॥ (मं १६)

" ये दोनों मर्त्य और अमर्त्य अर्थात् जड और चेतन ये दोनों सनातन शाश्वत हैं, ये सर्वत्र हैं, परस्पर विरुद्ध गुणकर्म स्वभाववाले हैं। इनमेंसे एकको जानते हैं, परंतु दूसरे का ज्ञान नहीं होता। " मर्त्य पदार्थोंका ज्ञान कुछ अंशमें होता है, इस ज्ञानको भौतिक ज्ञान, पदार्थज्ञान किंवा विज्ञान कहते हैं। मनुष्य इसको प्राप्त कर सकते हैं। परंतु दूसरा जो चेतन आत्मा है, जिसमें आत्मा और परमात्मा संमिलित हैं, वह अतर्क्य, अज्ञेय और गूढ है।

जगत्की रचना।

पूर्वोक्त प्रकार जड और चेतन मिलकर इस जगत्की रचना होगई है। इस विषयमें अगले ही मंत्रमें इस तरह कहा है--

भुवनस्य रेतः सप्त अर्धगर्भाः विष्णोः प्रदिशा विधर्मणि
तिष्ठन्ति। (मं० १७)

" सब सृष्टिके वीर्यसे सात मूलतत्त्व विविधगुण धर्मोंसे युक्त होकर व्यापक परमात्माकी आज्ञामें रहते हैं। " सृष्टि उत्पन्न करनेवाले ये सात मूलतत्त्व हैं, उनके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं और ये व्यापक ईश्वरकी आज्ञामें कार्य करते हैं। इन सात तत्त्वों-को जानना तथा आत्माको जानना इतना ही ज्ञान है, और यह ज्ञान मनुष्यके उद्धारका हेतु है। इस ज्ञानके विना मनुष्यका उद्धार हो नहीं सकता। ऐसे--

ते विपश्चितः धीतिभिः मनसा परिभुवः विश्वतः परिभवन्ति ॥ (मं १७)

" वे विशेषज्ञानी अपनी बुद्धियोंसे, कर्मोंसे और मनके विचार से विशेष श्रेष्ठ होकर सब प्रकारसे सर्वोपरि होते हैं । " सबके ऊपर अपना प्रभाव जमाते हैं । सर्वत्र उपस्थित होकर सबको प्रभावित करते हैं । यह कार्य इन ज्ञानियोंसे इसलिये होता है कि इनके पास पूर्वोक्त प्राकृतिक और आत्मिक ज्ञान पूर्णतया रहता है । इस ज्ञानका महत्त्व यह है–

ऋचः अक्षरे विश्वे देवाः अधिनिषेदुः । (मं० १८)

" ऋचाके अक्षरमें सब देव निवास करते हैं । " यह योग्यता वेदमंत्रके ज्ञानकी है । एक वेदमंत्रका ज्ञान होनेका नाम इतनी देवताओंका ज्ञान होना है । वेदका ज्ञान प्रत्यक्ष देवताओंका ही ज्ञान है । अग्निमंत्रसे अग्निविद्या, वायुके मंत्रोंसे वायु-विद्या, इसी प्रकार अन्यान्य मंत्रोंसे अन्यान्य देवताओंकी विद्या जानी जाती है । यह विद्या जैसी प्राकृतिक पदार्थोंका ज्ञान देती है उसी प्रकार आत्माका भी ज्ञान देती है । अग्नि, वायु, रवि, इन्द्र आदि शब्दोंसे एक सत्य आत्माका बोध होता है, यह बात इसी सूक्तके अन्तिम मंत्रमें कही है । वह अत्यंत महत्त्वका मंत्र यह है--

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (मं० २८)

" एक ही सत्य आत्माका वर्णन ज्ञानी लोग अनेक प्रकारसे करते हैं, उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा इत्यादि नाम वे देते हैं । " अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण आदि नाम एक आत्माके हैं, प्रत्येक नामसे व्यक्त होनेवाला गुण उसमें है, वह शत्रुनाशक होनेसे इन्द्र, सबका हितचिन्तक होनेसे मित्र, सबसे वरिष्ठ होनेसे वरुण, गति-मान होनेसे अग्नि, द्युस्थानमें होनेसे दिव्य, उत्तम पूर्ण होनेसे सुपर्ण, श्रेष्ठ होनेसे गरुत्मान्, एक अद्वितीय होनेसे एक, तीनों कालोंमें सत्य होनेसे सत्, सबका नियामक होनेसे यम, अन्तरालमें रहनेसे मातरिश्वा कहा जाता है । उसी एकके ये अनेक नाम हैं । और वेदमंत्रमें उस सत्य आत्माकी विद्या इस तरह है ।

इसके साथ साथ ये नाम अग्नि वायु आदि हैं वे भौतिक पदार्थोंके भी वाचक हैं, इसलिये इन देवताओंके नामोंसे और मंत्रोंसे इन पदार्थोंकी भी विद्या होती है । इस तरह इन्हीं मंत्रोंसे इन देवोंकी विद्या, भूत विद्या, और प्राकृतिक विज्ञान प्राप्त होना संभव है । अतः कहा है वेदमंत्रोंके अक्षरोंमें देव उपस्थित है, यहां देवोंकी ज्ञान रूपसे उपस्थिति समझना योग्य है ।

यः तत् न वेद किं ऋचा करिष्यति ? (मं० १८)

" जो इस विद्याको नहीं जानता वह वेदमंत्र लेकर क्या करेगा ? " अर्थात् केवल कंठ करना, अथवा केवल शब्दका अर्थ जानना व्यर्थ है । मंत्रका ठीक ठीक अर्थ तब विदित हुआ ऐसा कहा जा सकता है कि जब पाठकको मंत्रवर्णित देवताका साक्षात्कार यथावत् हो जायगा । यदि भौतिक देवताका साक्षात्कार हुआ तो भूतविद्या समझमें आगयी, और यदि आत्माका साक्षात्कार हुआ, तब आत्मविद्या समझमें आगयी । ज्ञानी की योग्यता श्रेष्ठ है वह ऐसे साक्षात्कार हुए ज्ञानी की है, न कि केवल शब्दशास्त्री की । अतः कहा है—

ये इत् तत् विदुः, ते इमे समासते (मं० १८)

" जो ज्ञानी पूर्वोक्त विद्याको यथावत् जानते हैं वेही श्रेष्ठ स्थानमें विराजमान हो सकते हैं । सुखात्मक उत्तम वा परम स्थान को प्राप्त हो सकते हैं । सत्य ज्ञानका इतना महत्त्व है । इसी विषयमें यह मंत्र अब देखिये–

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यः (मं० १९)

" आधे मंत्रभागसे चेतन आत्मा और सब जगत् समर्थ बन सकता है । " आधे मंत्रका ठीक ठीक ज्ञान होनेसे आत्म भी बलवान् होता है और जगत्के पदार्थ भी अपने अपने सामर्थ्यसे सामर्थ्यवान् होते हैं । आधे मंत्रमें यदि इतना विलक्षण ज्ञान है तो सूक्तमें और अनुवाकमें कितना ज्ञान होगा और वह मनुष्यका कैसा उद्धार कर सकता है, इस विषयकी कल्पना पाठक कर सकते हैं । इसीलिये वेदके ज्ञानका गौरव सर्वत्र आर्य शास्त्रोंमें किया है । परंतु यह ज्ञान सद्गुरुसे प्राप्त करना चाहिये,

वेदकी परंपरासे मिलना चाहिये और उससे मनन द्वारा वह आत्मसात् होना चाहिये और अन्तमें देवताका साक्षात्कार होना चाहिये। साक्षात्कारके पश्चात् उस ज्ञानसे पूर्वोक्त लाभ होसकता है, केवल शब्दज्ञानसे नहीं। सारांशरूपसे जानना हो तो इतनी बात पाठक ध्यानमें धारण करें–

त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तस्थे, तेन चतस्रः प्रदिशः जीवन्ति। (मं १९)

" त्रिपाद ब्रह्म विविध रूपसे जगत्में विशेष रीतिसे ठहरा है, और इसके जीवनसे चारों दिशाओंमें रहनेवाले पदार्थ जीवित रहते हैं। " यह ब्रह्म अथवा परमात्मा सर्व पदार्थोंके अन्दर व्यापक है और उसकी अगाध शक्तिसे यह सब जगत् जीवित रहा है। यदि उस ब्रह्मकी शक्ति इस जगत् को आधार न देगी, तो इस जगत्मेंसे कोई पदार्थ जीवित नहीं रहेगा। सबका जीवनाधार वही श्रेष्ठ ब्रह्म है।

जगत्का चक्र।

जगत् का चक्र किस तरह घूमता है यह बतानेके लिये बाईसवें मंत्रमें वृष्टिका उदाहरण दिया है, पृथ्वीपरके पानीकी भांप सूर्यकिरणोंसे होकर ऊपर जाती है, वहां उसके मेघ बनते हैं और योग्य समयमें वृष्टि होकर पृथ्वीपर जल होता है, फिर भांप मेघ और वृष्टि ऐसा यह जल चक्र सनातन चल रहा है। इसी प्रकार अनेक चक्र हैं और उसमें जगच्चक्र भी एक है। पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति और लय और लयके पश्चात् फिर उत्पत्ति इस प्रकार यह जगच्चक्र चल रहा है। चक्रका एक बिन्दु एक समय ऊपर होता और दूसरे समय वही नीचे आता है, इसी प्रकार जिसका जन्म होता है वही योग्य कालमें युवा होता है, और पश्चात् नाशको प्राप्त होता है और पश्चात् नवीन बनता है। इस तरह जगत् के सब चक्र चल रहे हैं। प्रवाहसे जगत सनातन किंवा अनादि अनन्त है,ऐसा जो कहते हैं उसका कारण यही है, परंतु प्रत्येक पदार्थकी दृष्टिसे देखा जाय तो जगत उत्पत्तिवाला और नाशवान् है। मनुष्य व्यक्तिशः मरता है तथापि मानव समाज अनादि कालसे चला आता है और भविष्यमें भी रहेगा। इसी तरह जगत् के विषयमें जानना योग्य है।

इस जगत् में एक विलक्षण बात है, वह यह है कि–

पद्वतीनां प्रथमा अपात् पति। (मं० २३)

" पांववालोंके पहिले पांवरहित दौडता है। " वस्तुतः पांववाले की दौड तेजीसे होना योग्य है, परंतु यहां पांववाल चलनेमें असमर्थ है और पांवरहित दौड लगाता है, इतना ही नहीं, प्रत्युत पांववालेको ही यह पांवरहित चलाता है। यहां अपने शरीरमें ही देखिये, शरीरको पांव हैं परंतु वह शरीर स्वयं चल नहीं सकता और आत्माको पांव नहीं हैं परंतु वह इस पांववाले शरीरको चला सकता है, कितना यह आश्चर्य है। इसीलिये एक सुभाषितमें कहा है–

मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरीन् ॥

" मूक शरीरको यह आत्मा वाचाल करता है और पंगुको पहाडों की सैर कराता है। " ऐसी अद्भुत शक्ति इस आत्मामें है। इस बातको यथावत्–

कः तत् चिकेत ? (मं० २३)

" कौन इस बातको जानता है ? " बहुत लोग तो रीतिसे जानते हैं, परंतु साक्षात्कारके समान जानना कठिन है। यह ज्ञान यद्यपि हरएकको प्राप्त करना आवश्यक है, तथापि मनुष्य ऐसे भ्रमचक्रमें गोते खाते हैं कि उनमेंसे बहुत ही थोडे मनुष्य इस सत्य ज्ञानको यथावत जान सकते हैं। इस आत्माकी शक्तिके विषयमें देखिये—

गर्भः अस्याः भारं आभरति। (मं० २३)

" मध्यमें स्थित आत्मा--प्रत्येक का केन्द्र--इस प्रकृतिका सब भार उठाता है। " इस जड शरीरका भार वह चेतन आत्मा उठा रहा है। यही इस शरीरको कुदवाता है, दौडाता है, छलांगें मरवाता है, यह सब इस शरीरसे होना सर्वथा असंभव है, परंतु ये सब बातें इस शरीरसे हो रही है, यह इस आत्माकी शक्तिसे ही हो रही है। जडको चेतनवत् चलानेका कार्य करना यह इसकी अद्भुत शक्तिका द्योतक है। इतना करता हुआ यह आत्मा—

*

ऋतं पिपर्ति, अनृतं निपाति । (मं० २३)

" सत्यकी पूर्णता करता है और असत्यको नीचे दबाता है । " जगत् में इसकी हलचल इसीलिये हो रही है । सत्यका विजय हो और असत्यका विजय न हो, इसीलिये इसकी सब हलचल हो रही है, यही बात भगवद्गीतामें इस प्रकार कही है–

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ भ० गी० ४।८

" सत्य मार्गीयोंकी रक्षा करनेके लिये और असत्यमार्गीयोंका नाश करनेके लिये अर्थात् सत्यधर्मकी स्थापनाके लिये आत्मा सत्य और असत्यके संयुग अर्थात् युद्धके समयमें प्रकट होता है । " सत्य और असत्य का युद्ध चलरहा है, यह हमेश चलता है । और यह आत्मा अपनी शक्ति इस प्रकारके युद्ध छिडनेपर सत्यकी रक्षा करनेके लिये प्रकट करता है । और अपनी शक्तिसे सत्यकी रक्षा करता है, असत्यका नाश करता है और सत्य धर्मका संस्थापन करता है ।

इसी आत्माका नाम विराट् है और यह पृथ्वी, आप आदि जगतमें जगद्रूप बना है और यह (अधिराजः बभूव) सबका राजाधिराज है । यही सबका ईश्वर है और इसके (वशे भूतं भव्यं) आधीन भूत, भविष्य और वर्तमानका संपूर्ण जगत है । सब पर इसीका शासन चल रहा है । यही सबका एक ईश्वर है और इसीके शासनमें सब जगत् चल रहा है । इसकी प्रसन्नता हुई तो वह (मे वशे भूत भव्यं) मुझ जैसे मनुष्य के वशमें भी भूत भविष्य वर्तमान करता है । उसकी कृपा होनेकी ही केवल आवश्यकता है । इसकी कृपा यज्ञीय जीवन करनेसे ही हो सकती है दूसरा कोई मार्ग नहीं है । पहिले समयमें यज्ञ इसी ईशकृपा संपादन करनेके लिये किये जाते थे (तीन धर्माणि प्रथमानि आसन्) येही पहिले शुद्ध आत्माओंके धर्म थे । (वारीः पृश्नि उक्षाणं अपचन्त) ये वीर लोग छोटे उक्षाको परिपक्व बनाते थे । अर्थात् इन यज्ञकर्मोंसे छोटे उक्षाकी परिपक्वता होती है । यहां (पृश्नि उक्षाणं) छोटा उक्षा कौन है इसका विचार करना चाहिये । वेदमें अन्यत्र कहा है कि–

उक्षास द्यावापृथिवी बिभर्ति ॥ ऋ० १।३१।८
अग्रिय उक्षा बिभर्ति भुवनानि वाजयुः ॥ ऋ० ९।८३।३
अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्वन्तरिक्षम् ।
अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमाविवेश ॥ अथर्व ४।११।१

'उक्षा द्युलोकका और पृथ्वी का भरण पोषण करता है । बडा भाई उक्षा अन्न देता हुआ सब भुवनोंका धारण पोषण करता है । अनड्वान् पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु, सब दिशाओं, छः पृथ्वीयों और सब भुवनोंका धारण पोषण करता है ।" यहां उक्षा और अनड्वान् एक ही है यह सब जानते हैं । भाषामें इन शब्दोंका अर्थ " बैल " है और इनका यौगिक अर्थ "उठानेवाला, खींचनेवाला, शकट चलानेवाला" है। उक्त मंत्रोंमें त्रिभुवनका चलानेवाला सब भुवनोंका चलानेवाला, सबका आधार उक्षा है ऐसा कहा है। इसलिए यहां का उक्षा या अनड्वान् शब्द निश्चयसे बैलवाचक नहीं है ।

उक्त ऋग्वेदके मंत्रमें 'अग्रिय उक्षा' शब्द है, इनका अर्थ 'बडा भाई उक्षा' है । अर्थात् जो सब भुवनोंका आधार है वह बडा भाई उक्षा है। इससे सिद्ध होता है कि इस बडेभाई उक्षाका कोई दूसरा छोटा भाई उक्षा है। निःसंदेह ही इस छोटे भाई के वाचक ही यहां ' पृश्नि उक्षाणं ' ये शब्द हैं । पृश्निका अर्थ "छोटा" है ।

अग्रियः उक्षा । ऋ० ९।८३।३
पृश्निः उक्षा । अथर्व ९।१० (१५)।२५

ये दो मंत्रोक्त शब्द स्पष्ट बता रहे हैं कि इनमेंसे एक भाई और दूसरा छोटा भाई है । बडाभाई पहिलेसे परिपक्व है परंतु दूसरा भाई परिपक्व बनानेवाला है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह परिपक्व होनेवालेका वर्णन जीवात्माका है । परमात्मा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अत एव परिपक्व है और जीवात्मा अशुद्ध और अमुक्त होनेसे अपरिपक्व है । अपरिपक्व को परिपक्व बनाना होता है, यही कार्य वीर अर्थात् बलवान

लोग करते हैं, क्योंकि (नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः । कठ उ. १।२।२२) बलहीन मनुष्यसे इसके परिपक्व बनानेका अनुष्ठान नहीं हो सकता है । इस हेतुसे कहा है कि वीर लोग ही इस छोटेभाई उक्षाको परिपक्व बनानेका कार्य करते हैं। अर्थात् यह (पृश्नि उक्षा) छोटाभाई उक्षा, जीवात्मा है । दो सुपर्ण, दो उक्षा ये वैदिक वर्णन जीवात्मा परमात्माके ही वाचक हैं । अस्तु । यहां छोटे उक्षा—जीवात्मा—के परिपक्व बनानेका साधन ' यज्ञ ' कहा है ।

विषूवता आरात् शकमयं धूमं अपश्यं (मं० २५)

" सर्वत्र दूर और समीप शक्तिमान यज्ञाग्निका धूवां मैं देखता हूं । " और इस यज्ञाग्निद्वारा ही वीर लोग इस छोटे उक्षा-को परिपक्व बनाते हैं । यज्ञसे ही इसकी परिपक्वता होती है । अग्निमें हवन करना यह यज्ञका उपलक्षण है । यज्ञका मुख्यार्थ 'देव पूजा, संगतिकरण और दान' है। इस मुख्यार्थ को लेकर और उपलक्षण को सूचक मानकर ही इसका अर्थ करना उचित है, कई लोग यहां 'उक्षा, धूम और पचन्ति, शब्द देखकर प्राचीन लोग बैलको अग्निपर पकाते थे, ऐसा भाव निकालते हैं। परंतु यहां किसी को ऐसा संदेह न हो इसलिये इस मंत्रका इतना स्पष्टीकरण करना पडा है। आशा है कि इस स्पष्टीकरणसे किसी वाचकके मनमें इस विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी ।

किरणवाले तीन देव ।

(त्रयः केशिनः) किरणवाले अर्थात् प्रकाशमान तीन देव हैं । ये तीनों देव (ऋतुथा विचक्षते) ऋतुके अनुसार प्रकाश-ते हैं । यहां इस प्रकारके कई देवोंके गण हैं, पहिला सूर्यगण है, इसमें सूर्य, विद्युत् और अग्नि ये तीन देव क्रमशः द्यु, अन्तरिक्ष और भू स्थानमें हैं । तीनों प्रकाशमान होनेसे ' केशी ' अर्थात् किरणोंसे युक्त किंवा बालोंवाले हैं।

(एषां एकः संवत्सरे वपते) इनमेंसे एक वर्षमें एकवार अन्नादि का बीजारोपण करता है, सूर्यके कारण वर्षमें एकवार भूमिमें बीजक्षेप करके धान्य उत्पन्न होता है । (अन्यः शचीभिः विश्वं अभि चष्टे) दूसरा तेजस्वी देव अपने किरणोंसे सबको प्रकाशित करता है । यह अग्नि अपने तेजसे रात्रीके समयमें भी जगत्में प्रकाश करता है । तीसरा देव विद्युत् है (एकस्य धाजिः पदेशे) उसकी गति दिखाई देती है परंतु (न रूपं) उसका रूप नहीं दीखता, क्योंकि यह क्षणमात्र प्रकाशता है और पश्चात् किस स्थानपर जाता है इसका पता भी नहीं लगता । यंत्रद्वारा दीप आदि जलानेका कार्य करनेवाली बिजली भी दिखाई नहीं देती, परंतु उसका वेग अनुभवमें आता है ।

इसी प्रकार अग्नि, वायु और सूर्य ये तीन देव उक्त तीन स्थानोंमें हैं जिनमें बीचका नहीं दीखता है और अन्य देव दीखते हैं । शरीरमें भी वाणी, प्राण और नेत्र हैं जिनमेंसे प्राण मध्यस्थानीय देव नहीं दीखता, परंतु वेगसे अनुभव होता है। इस प्रकार तीन तीन देवोंके अनेक गण हैं । पाठक इस प्रकार विचार करेंगे तो उनको इन गणोंका ज्ञान होगा । यहां स्मरण रखना चाहिये कि ये तीन यद्यपि स्थूल दृष्टिसे विभिन्न प्रतीत होते हैं तथापि एक के ही ये तीन रूप हैं ।

चतुष्पाद गौ ।

"गौ" का अर्थ 'वाचा' है । यह वाक् चतुष्पाद अर्थात् चार पादवाली है । (वाक् चत्वारि पदानि परिमिता) नाभि, उर और कण्ठमें तीन पाद गुप्त हैं और मुखमें जो चतुर्थ पाद है वह व्यक्त है । इस प्रकार ये वाणीके चार पाद हैं । इन चार पादों अर्थात् स्थानोंमें यह वाणी उत्पन्न होती है, परंतु ये वाणीके स्थान साधारण मनुष्य जान नहीं सकते, क्योंकि ये योगी लोग ही ध्यानधारणासे जान सकते हैं । ये (मनीषिणः ब्राह्मणाः विदुः) ज्ञानी ब्रह्मको जाननेवाले ही इस बातको जान सकते हैं । अर्थात् वाणीकी उत्पत्तिका इस प्रकार विचार करनेसे मनुष्य आत्मातक पहुंच सकता है ।

पाठक इस तरह मनन करके आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ।

—:o:—

अथर्ववेदके नवम काण्डका मनन ।

सात मधु ।

इस काण्डमें ३०२ मंत्र हैं और इनमें कई मंत्र विशेष ही मनन करने योग्य हैं। इनमें सबसे प्रथम सूक्तका "सात मधु" अर्थात् सात मीठे पदार्थोंका वर्णन करनेवाला मंत्र पाठक विशेष स्मरण रखें—

ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥ कां० ९।१।२२

"ब्राह्मण, राजा, धेनु, बैल, चावल, जौ और मध (शहद) ये सात मधु इस जगत् में हैं।" प्रत्येक मनुष्य मिठास चाहता है, मधुरता चाहता है, मीठे पदार्थ खानेकी इच्छा करता है। वेद कहता है कि ये "सात मधुर पदार्थ हैं" जो मनुष्य मिठाई सेवन करना चाहे वह इनका सेवन करें। यहां प्रत्येकका सेवन करनेका विधि भिन्न भिन्न है। प्रथम हम इन सात मधुओंका स्वरूप देखेंगे–

"ब्राह्मण" पहिला मधु है। इसके पास ज्ञान का मीठा रस रहता है। यही साक्षात् अमृत है, ज्ञान और विज्ञान इसमें संमिलित है। अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि इस ज्ञानपर अवलंबित है। ब्राह्मणके आधीन राष्ट्रका अध्ययन अध्यापन है। अर्थात् यही राष्ट्रकी भावी संतान उदयोन्मुख करता है। यह "ज्ञानमधु" है। हरएक मनुष्य और प्रत्येक युवा इसका सेवन करे।

'राजा' दूसरा मधु है। (रञ्जयति इति राजा) प्रजाका रंजन करनेवाला राजा होता है। जो प्रजाके उत्साहको कुचलता है उसका नाम राजा नहीं। राजा शब्दसे सब क्षत्रियोंका ग्रहण हो जाता है। दुःखसे प्रजाकी रक्षा करना और उसका रञ्जन करना, यही राज्यशासन का कार्य है। यहां 'प्रजारञ्जनरूप' मधु देनेवाला राजा होता है। राष्ट्रका प्रत्येक मनुष्य इस रक्षाका कार्य करनेमें समर्थ चाहिये, तभी यह मधु प्रजाको प्राप्त होता है। जहां ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुलकर राष्ट्रकी उन्नति करनेमें तत्पर होते हैं वही राष्ट्र उन्नत होता है।

इसके पश्चात् तीसरा मधु "गौ" है। ज्ञान और रक्षा होनेके पश्चात् गायका दूध रूपी अमृत प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त होना चाहिए। यह अमृत है और यही जीवन है। चतुर्थ मधु 'बैल' है। उत्तम गौकी उत्पत्ति उत्तम बैलके वीर्य पर अवलंबित है इसलिये बैलकी गणना मधुमें की है। इसके अतिरिक्त हमारी खेती भी बैलपर ही निर्भर है। आगेके तीन मधु चावल जौ और शहद हैं। ये उत्तम भक्ष्यान्न हैं ये चावल और जौ बुद्धिवर्धक हैं और शरीर की स्वस्थताके लिये यह अन्न उत्तम है। मधु अर्थात् शहद तो सर्वोत्तम स्वादु पदार्थ है। वनस्पतियोंमें उत्तम फूल और फूलोंमें मधु उत्तम। ऋषियों का यही चावल जौ और शहद अन्न था, इसीलिये उनकी बुद्धि अत्यंत कुशाग्र होती थी। इस प्रकार यह सात मधुओंका विषय है। इसका विचार पाठक करें।

सूर्यकिरण ।

अष्टम सूक्तमें सूर्यकिरणोंका महत्त्व वर्णन किया है। सूर्यकिरणसे शरीरके रोग दूर होते हैं जो ऐसा कहा है वह प्रत्येक मनुष्यको विशेष रीतिसे स्मरण रखना चाहिये—

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः ॥ अथर्व० ९।८।२२

"उदयको प्राप्त हुआ सूर्य अपने किरणोंके द्वारा सिरका दर्द, अंगोंके रोग हृदयके रोग, तथा अन्य रोग दूर करता है।" यह मंत्रका कथन सब लोगोंको सदा स्मरण करना आवश्यक है। आजकल रोग बढ रहे हैं, जो रोग पूर्व समयमें नहीं थे, वे इस समय चारों ओर फैल रहे हैं। ऐसी अवस्थामें सूर्यकिरणोंके इस रोगनाशक धर्मका हमें विशेष उपयोग हो सकता है। आजकल प्रायः प्रत्येक मनुष्य सिरदर्दसे पीडित है, पेटके रोग अपचन आदि बहुतोंको सता रहे हैं। शरीरकी दुर्बलता तो प्रमाणसे भी अधिक बढ रही है। ऐसी अवस्थामें सूर्यकिरणों का उपयोग मनुष्य करेंगे तो निःसंदेह अधिक लाभ होगा। सूर्यके पास टकटकी लगाकर देखनेसे नेत्ररोग और

दृष्टिके दोष दूर होते हैं यह अनुभवसिद्ध बात है। जो लोग धूपमें अपने शरीरकी चमडीको तपावेंगे, उनको ज्वरादि की बाधा नहीं होगी, इसी प्रकार सूर्यकिरणोंके द्वारा अनंत लाभ होना संभव है। इसका विचार पाठक करें।

एक देव।

सूक्त नवम और दशम बडे महत्त्वके हैं। ऋग्वेदमें इन दोनों सूक्तोंका मिलकर एक ही सूक्त है। इन दोनों सूक्तोंका विषय प्रायः एक ही है। आत्मा और जगत्का ज्ञान देना यही मुख्यतया इसका विषय है। यह विषय इन सूक्तोंमें अनेक प्रकारसे समझाया है। वेद पढते पढते एक बात पाठकोंके मनमें खटकती है वह यह है कि ये भिन्न भिन्न देवताएं विभिन्न ही हैं कि इनकी एक देवतामें परिणति होती है। अर्थात् वेदमें "ऐकेश्वरवाद" है वा "बहुदेवतावाद" है। इसका उत्तर दशमसूक्त ने उत्तम रीतिसे दिया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ अथ० ९।१०।२८

यह मंत्र ऋग्वेदके प्रथम मंडलमें भी है। इस मंत्रका कथन है कि (एकं सत्) एक ही सत्य तत्व है, एक ही आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, देव, ईश्वर किंवा परमेश्वर है। जिसका कोई नाम नहीं है, परंतु जिसके सब नाम भी हैं। उसके 'सत्' इतना ही यहां कहा है। 'सत्' का अर्थ है 'जो है'। अर्थात् ऐसी कोई विलक्षण शक्ति है कि जो इस जगत्के पीछे रहकर सब जगतके कार्य चला रही है। जिसकी शक्तिसे अग्नि जलता, सूर्य प्रकाशता, विद्युत् चमकती, वायु बहता, और जल प्रवाहित होता है, अतः उस अनाम सत्य तत्त्वको अग्नि, सूर्य आदि नाम दिये गये हैं।

वेदका पाठ करनेके समय इस सत्य सिद्धान्तकी मनमें स्थिरता करना चाहिये। वेदका सत्य ज्ञान होनेके लिये इस सिद्धान्तके जानने और समझनेकी अत्यंत आवश्यकता है। जो लोग इस मंत्रके उपदेशको नहीं मानते, वेदका अर्थ समझने के अधिकारी ही नहीं हो सकते। अतः वेदने स्वयं इन्ही सूक्तोंमें कहा है कि जो इस तत्त्वको नहीं जानते वे

किं ऋचा करिष्यति।

"वेदके मंत्र लेकर क्या करेंगे?" अर्थात् उनको इससे कोई लाभ नहीं होगा। लाभ तो उनको होगा कि जो वेदकी प्रक्रिया स्वीकार करके वेदको पढते हैं। दुर्दैव से आजकल ऐसे भी कई लोग हैं, कि जो इस मंत्रको ही—अप्रमाण मानते हैं। वस्तुतः वेदमें यही प्रधान मंत्र है। क्योंकि इसी के आधारसे वेदमंत्रोंका अर्थ स्पष्ट होता है। अतः पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस मंत्रका अच्छी प्रकार मनन करें और सब वैदिक देवताओंके नाम एक ही सद्वस्तु के हैं ऐसा मानकर वेदका अर्थ करने लग जांय। इस प्रकार कुछ महत्त्वकी बातें इस नवम काण्डमें हैं जो विशेष महत्त्वकी होनेसे यहां पाठकोंके सन्मुख दुबारा रखी हैं।

अथर्ववेदका स्वाध्याय।

नवम काण्डकी विषयसूची।

	पृष्ठ
वेदमंत्रोंमें देवोंका निवास	२
नवमकाण्ड	३
सूक्तोंके ऋषि-देवता छन्द	४
ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग	६
देवताक्रमानुसार ,,	,,
१ मधुविद्या और गोमहिमा	७
सात मधु	११
अमृतका कलश	१२
२ काम	१३
संकल्पशक्ति	१८
परमात्मा जीवात्मा (कोष्टक)	१९
कामका कवच	२०
३ गृहनिर्माण	२१
घरकी प्रसन्नता	२६
४ बैल	२८
बैलोंकी महिमा	३३
५ पञ्चौदन अज	३७
पञ्चौदन अज	४५
६ अतिथि सत्कार	५३
अतिथिका आदर	६०
७ गौका विश्वरूप	६१
गौका माहात्म्य	६३
८ यक्ष्मनिवारण	,,
सिरदर्द	६६
९ एक वृक्षपर दो सुपर्ण	६७
जीवात्मा, परमात्मा और संसार	७२
१० एक आत्माके अनेक नाम	८३
छन्दोंका महत्व	९०
वाणी और गोरक्षण	,,
सात छन्द	९१
सुहस्त गोरक्षक	,,
गौकी सहायता	९२
जीवात्मा	९३
प्रश्नोत्तर	९५
अश्वशक्ति	,,
जगत्की रचना	९७
जगत्का चक्र	९९
छोटा और बडा उक्षा	१००
किरणवाले तीन देव	१०१
चतुष्पाद गौ	,,
नवम काण्डका मनन	१०२

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य

प्रस्तावना

दशम-काण्ड

अथर्ववेदके दूसरे महाविभागमें यह दशम काण्ड तीसरा है। इसमें दस सूक्त हैं, पर्यायवाले सूक्त इसमें नहीं हैं। इन दस सूक्त के ५ अनुवाक हैं और सूक्तमें मंत्र-संख्या इस प्रकार है—

अनुवाक	सूक्त	मंत्रसंख्या	मंत्रविभाग
१	१	३२	३ (१० + १० + १२)
	२	३३	३ (१० + १० + १३)
२	३	२५	३ (१० + १० + ५)
	४	२६	३ (१० + १० + ६)
३	५	५०	५ (१० + १० + १० + १० + १०)
	६	३५	४ (१० + १० + १० + ५)
४	७	४४	४ (१० + १० + १० + १४)
	८	४४	४ (१० + १० + १० + १४)
५	९	२७	३ (१० + १० + ७)
	१०	३४	३ (१० + १० + १४)
५	१०	३५०	३५

+

अब इन सूक्तोंके ऋषि-देवता-छंद देखिये—

ऋषि-देवता-छंद

प्रथमोऽनुवाकः ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्दः
१	३२	प्रत्यङ्गिरसः	कृत्यादूषणं	अनुष्टुप्; १ महाबृहती; २ विराण्नाम्नी; ९ पथ्यापंक्तिः; १२ पंक्ति; १३ उरोबृहती; १५ चतुष्पदा विराड्जगती; १७, २०, २४ प्रस्तारपंक्तिः २० (विराट्); १६, १८ त्रिष्टुभौ; १९ चतुष्पदा जगती, २२ एकावसाना द्विपदानी उष्णिक्; २३ त्रिपदा भुरिग्विषमा गायत्री; २८ त्रिपदा गायत्री; २९ मध्ये ज्योतिष्मती जगती; ३२ द्व्यनुष्टुब्गर्भा पञ्चपदातिजगती ।
२	३३	नारायणः	पुरुषः पार्ष्णिसूक्तं, ब्रह्मप्रकाशनम् ३१-३२ साक्षात्परब्रह्म	अनुष्टुप्; १-४, ७-८ त्रिष्टुभः; ६, ११ जगत्यौ; २८ भुरिग्बृहती ।

द्वितीयोऽनुवाकः ।

३	२५	अथर्वा	वरणमणिः वनस्पतिः, चन्द्रमाः	अनुष्टुप् । २-३, ६ भुरिक् त्रिष्टुभः; ८, १३-१४ पथ्यापंक्तिः, ११, १६ भुरिजौ; १५, १७-२५ षट्पदा जगत्यः ।
४	२६	अथर्वा	तक्षकः	अनुष्टुप् । १ पथ्यापंक्ति; २ त्रिपदायवमध्या गायत्री; ३,४ पथ्याबृहत्यौ; ८ उष्णिग्गर्भा परा त्रिष्टुप्; १२ भुरिग्गायत्री; १६ त्रिपदा प्रतिष्ठागायत्री; २१ ककुंमती; २३ त्रिष्टुप्; २३ त्र्यवसाना षट्पदा बृहती गर्भा ककुम्मती भुरिक् त्रिष्टुप् ।

तृतीयोऽनुवाकः ।

५	१-२४	सिंधुद्वीपः	आपः चन्द्रमाः	अनुष्टुप् । १-५ त्रिपदा पुरोभिकृतयः ककुंमतीगर्भा पंक्तयः; ६ चतुष्पदा जगतीगर्भा जगती; ७-१०, १२, १३ त्र्यवसाना पञ्चापदा विपरीतपादलक्ष्मा बृहत्यः; ११, १४ पथ्यापंक्ति; १५-१८,२१ चतुरवसाना दशपदा त्रैष्टुब्गर्भा अतिधृतयः; १९-२० कृती; २४ त्रिपदा विराड्गायत्री ।
	२५-३५	कौशिकः	विष्णुक्रमः मंत्रोक्ताः	२५— ६ त्र्यवसाना षट्पदा यथाक्षरं शक्वर्योऽतिशक्वर्यश्च; ३६ पञ्चपदा अतिशाक्वर अतिजागतगर्भाष्टिः ।
	३६-४१	ब्रह्मा	मंत्रोक्ताः	३७ विराट् पुरस्ताद्बृहती; ३८ पुरोष्णिक्; ३९,४१ आर्षी गायत्र्यौ; ४० विराड्विषमा गायत्री ।

	४२–५०	विहव्यः	प्रजापतिः	४४ त्रिपदा गायत्रीवर्धानुष्टुप्; ५० त्रिष्टुप्।
९	२५	बृहस्पतिः	फालमणिः	अनुष्टुप्। १, ४, २१ गायत्र्यः; ५ षट्पदा जगती;
			वनस्पतिः	६ सप्तपदा विराट् शक्वरी; ७-९ त्र्यवसाना अष्टपदा अष्टयः;
			३ आपः	१० नवपदा धृतिः; ११, २०; २३–२७ पथ्या पंक्तयः; १२-१७ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वर्यः; ३१ त्र्यवसाना षट्पदा जगती; ३५ पंचपदानुष्टुब्गर्भा जगती।

चतुर्थोऽनुवाकः।

७	४४	अथर्वा (क्षुद्रः)	स्कंभः	त्रिष्टुभः। १ विराड् जगती; २, ८ भुरिजौ; ७, ११ परोष्णिहौ; १०, १४, १६, १८, १९ उपरिष्टाद्बृहत्यः;
			अध्यात्मं	११–१२, १५, २०, २२, ३९ उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगत्यः; १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती; २१ बृहतीगर्भानुष्टुप्; २३-३०, ३७, ४०, अनुष्टुभः; ३१ मध्ये ज्योतिर्जगती; ३२, ३४, ३६ उपरिष्ठाद्विराड् बृहत्यः; ३५ चतुष्पदा जगती; ४१ आर्षी त्रिपाद् गायत्री; ४४ आर्षी अनुष्टुप्।
			मंत्रोक्ताः	
८	४४	कुत्सः	अध्यात्मं	त्रिष्टुभः। २ उपरिष्टाद्विराड् बृहती; २ बृहती गर्भानुष्टुप्; ५ भुरिगनुष्टुप्। ६, १४, १९-२१, २३, २५, २९, ३१-३४, ३७,३८,४१, ४३ अनुष्टुभः; ७ पराबृहती; १० अनुष्टुब्गर्भा बृहती; ११ जगती; १२ पुरोबृहती; त्रिष्टुब्गर्भापंक्तिः; १५; २७ भुरिग्बृहत्यौ; २२ पुरोष्णिक्; २६ द्व्युष्णिग्गर्भानुष्टुप्, ३० भुरिक्; ३९ बृहती गर्भा त्रिष्टुप्; ४२ विराड् गायत्री।

पंचमोऽनुवाकः।

९	२७	अथर्वा	शतौदना	अनुष्टुभः। १ त्रिष्टुप्; १२ पथ्यापंक्तिः; २५ द्व्यनुष्टुब्गर्भानुष्टुप्; २६ पंचपदा बृहत्यनुष्टुब्द्व्युष्णिग्गर्भा जगती; २७ षड्डपदातिजगत्यनुष्टुब्गर्भा शक्वरी।
१०	३४	कश्यपः	वशा	अनुष्टुभः। १ शकुन्मती अनुष्टुप्; ५ स्कंधो ग्रीवी बृहती; ६,८,१० विराजः; २३ बृहती; २४ उपरिष्टाद्बृहती; २६ आस्तारपंक्तिः; २७ शंकुमती; २९ त्रिपदा विराड् गायत्री; ३१ उष्णिग्गर्भा; ३३ विराट् पथ्याबृहती।

इस वशाम काण्डमें आंगिरस ऋषिका १, नारायण ऋषिका १, बृहस्पतिका १, कुत्स ऋषिका १, कश्यप ऋषिका १, अथर्वा ऋषिके ४ और विहव्यप्रजापति-कौशिक-ब्रह्मा-विहव्य इन चार ऋषियोंका मिलकर १ ऐसे दस सूक्त हैं। इस तरह ऋषिविभाग है।

तथा क्षुद्रयाजूषण देवताका १, पुरुष-ब्रह्मदेवताके ४, मणिदेवताके २, तक्षक देवताका १ और शतौदना वशा पोके २ मिलकर कुल दश सूक्त हैं।

अब इन मंत्रोंका अर्थ भावार्थ और विवरण देखिये—

अथर्ववेदका सुबोधभाष्य।

दशमं काण्डम्।

---

(१) कृत्यादूषणं।

घातक प्रयोगको असफल बनाना।

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ १ ॥
शीर्षण्वतीं नस्वतीं कर्णिनीं कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ २ ॥
शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता।
जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्धुमृच्छतु ॥ ३ ॥

अर्थ— (चिकित्सवः) निर्माता लोग (यां हस्तकृतां विश्वरूपां कल्पयन्ति) जिस कृत्या- घातक प्रयोग— को अपने हाथोंसे अनेक रूपोंवाली बना देते हैं, जैसे (वहतौ वधूं इव) बरातके समय वधूको सजाते हैं, (सा) वह कृत्या वह घातक प्रयोग (आरात् एतु) दूर चली जावे। हम (एनां अप नुदामः) इस घातक प्रयोगको दूर कर देते हैं॥ १॥

(विश्वरूपा शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी) अनेक रूपोंवाली सिरवाली, नाकवाली तथा कानवाली (कृत्याकृता संभृता) बनायी कृत्या जो तैयार हुई हो (सा आरात् एतु) वह दूर चली जावे, (एनां अप नुदामः) इसको हम दूर कर देते हैं॥ २॥

(पत्या नुत्ता जाया इव) पतिकी छोडी स्त्री जैसी (कर्तारं बन्धु) पिताके पास अथवा बन्धुके पास सीधी जाती है, उस प्रकार (शूद्रकृता, स्त्रीकृता, राजकृता, ब्रह्मभिः कृता) शूद्र, स्त्री, राजा अथवा ब्राह्मणों द्वारा की हुई कृत्या (कर्तारं ऋच्छतु) उसके कर्ताके पास वापिस जावे॥ ३॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ४ ॥
अधमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते ।
प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ५ ॥
प्रतीचीनं आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः ।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्याऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥ ६ ॥
यस्त्वोवाच परेहीतिं प्रतिकूलमुदाय्यम् ।
तं कृत्येऽभिनिवर्तस्व माऽस्मानिच्छो अनागसः ॥ ७ ॥
यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येवर्भुर्धिया ।
तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः ॥ ८ ॥
ये त्वा कृत्वाऽऽलेभिरे विदूला अभिचारिणः ।
शंभ्वीदं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥ ९ ॥

अर्थ— (यां क्षेत्रे) जिस कृत्या-घातक प्रयोग-को खेतमें (यां गोषु) जिसको गौओंमें करते हैं, (यां वा ते पुरुषेषु चक्रुः) अथवा जिसको तेरे पुरुषोंमें-पुरुषोंपर करते हैं, (सर्वाः ताः कृत्याः) वे सब घातक प्रयोग (अहं अनया ओषध्या* अदूदुषं) इस ओषधिसे असफल बनाता हूं ॥ ४ ॥ (अथर्व० ४।१८।५ * अपामार्ग ओषधि)

(अधकृते अघं अस्तु) पापाचरण करनेवालेको पाप लग जावे, (शपथीयते शपथः) शाप देनेवालेकोही शाप लग जावे, (प्रत्यक् प्रति प्रहिण्मः) हम सब बुराई वापस भेज देते हैं, (यथा कृत्याकृतं हनत्) जिससे घातक प्रयोग करनेवालेका नाश करे ॥ ५ ॥

(प्रतीचीनः आंगिरसः) घातक प्रयोगको वापिस भेजनेमें समर्थ आंगिरसी विद्यामें प्रवीण (अध्यक्षः नः पुरोहितः) अध्यक्ष ही हमारा मुखिया नेता है । वह (कृत्याः प्रतीचीः आकृत्य) घातक प्रयोगोंको लौटा देता है और वह इस साधनसे (अमून् कृत्याकृतः जहि) उन घातपात करनेवालोंका नाश करे ॥ ६ ॥

हे (कृत्ये) घातक प्रयोग ! (यः त्वा ' परा इहि ' इति उवाच) जिस प्रयोगकर्ताने तुझे ' आगे बढ ' ऐसा कहा, (तं प्रतिकूलं उदाय्यं अभिनिवर्तस्व) उस विरोधकर्ता शत्रुके पास पहुंच जा, और (अनागसः अस्मान् मा इच्छः) निरपराधी हम, लोगोंकी इच्छा मत कर अर्थात् हम पर आक्रमण न कर ॥ ७ ॥

हे कृत्ये (ऋभुः धिया रथस्य परूंषि) जैसा शिल्पी अपनी बुद्धिसे रथके अवयवोंको बनाता है वैसाही (यः ते परूंषि संदधौ) जो तेरे—घातक प्रयोगके-अवयवोंको बनाता है, उसी निर्माताके पास (तं गच्छ) वापिस जा, (तत्र ते अयनं) वहांही तुझे वापिस पहुंचना है, (अयं जनः ते अज्ञातः) यह मनुष्य तुझे अज्ञात ही रहे, अर्थात् इसपर हमला न होकर घातक प्रयोगकर्ताके पास वापिस चला जावे ॥ ८ ॥

(ये विदूलाः=विदुराः अभिचारिणः) जो धूर्त घातक प्रयोग करनेवाले (त्वा कृत्या) हे कृत्ये तुझको बनाकर (आलेभिरे) धारण करते हैं, उस घातक प्रयोगका (कृत्यादूषणं इदं) प्रतिकार करनेवाला यह (शं-भु) शुभ साधन है (पुनःसरं प्रतिवर्त्म) यह पुनः घातक प्रयोगको लौटानेवाला है, अतः (तेन त्वा स्नपयामः) इससे तुझे स्नान कराते हैं, जिससे सब दोष दूर हो जावें ॥ ९ ॥

यद् दु॒र्भगां॒ प्रस्न॑पितां मृ॒तव॑त्सामुपेमि॒म ।
अपै॑तु॒ सर्वं॒ मत् पा॒पं द्रवि॑णं॒ मोप॑ तिष्ठतु ॥ १० ॥ (१)
यत् ते॑ पि॒तृभ्यो॒ दद॑तो य॒ज्ञे वा॒ नाम॑ जगृ॒हुः ।
सं॒दे॒श्या॒३॒॑त् सर्व॑स्मात् पा॒पादि॒मा मु॑ञ्चन्तु॒ त्वौष॑धीः ॥ ११ ॥
दे॒वै॒न॒सात् पित्र्या॑न्नामग्रा॒हात् सं॑दे॒श्या॒दभि॒निष्कृ॑तात् ।
मु॒ञ्चन्तु॑ त्वा वी॒रुधो॑ वी॒र्ये॑ण॒ ब्रह्म॑ण ऋ॒ग्भिः पय॑स॒ ऋषी॑णाम् ॥ १२ ॥
यथा॒ वात॑श्च्या॒वय॑ति॒ भूम्या॑ रे॒णुभ॒न्तरि॑क्षाच्चा॒भ्रम् ।
ए॒वा मत् सर्वं॑ दुर्भू॒तं ब्रह्म॑नुत्त॒मपा॑यति ॥ १३ ॥
अप॑ क्राम॒ नान॑दती॒ विन॑द्धा गर्द॒भीव॑ ।
क॒र्तॄन् न॑क्षस्वे॒तो नु॒त्ता ब्रह्म॑णा वी॒र्या॑वता ॥ १४ ॥
अ॒यं पन्थाः॑ कृ॒त्येति॑ त्वा नयामोऽभि॒प्रहि॑तां॒ प्रति॑ त्वा॒ प्र हि॑ण्मः ।
तेना॒भि या॑हि भञ्ज॒त्यन॑स्वतीव वा॒हिनी॑ वि॒श्वरू॑पा कुरू॒टिनी॑ ॥ १५ ॥

अर्थ— (यत् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सां) जो दुर्भाग्ययुक्त, न्हाई हुई, मरे हुए पुत्रवालीको (उप ईयिम) प्राप्त करना आदिको प्राप्त होना है, यह (मत् सर्वं पापं अप एतु) मुझसे सब पाप दूर हो जावे और (द्रविणं मा उप तिष्ठतु) द्रव्य मेरे पास आजावे ॥ १० ॥

हे मनुष्य (यत् पितृभ्यः ददतः) जो पितरोंको देनेके समय, तथा (यज्ञे वा) यज्ञमें (ते नाम जगृहुः) तेरा नाम लेवें, तो (इमाः ओषधीः) ये औषधियां उस (संदेश्यात् सर्वस्मात् पापात्) होनेवाले सब पापसे (त्वा मुञ्चन्तु) तेरी मुक्तता करें ॥ ११ ॥

हे मनुष्य ! (वीरुधः) औषधियां (त्वा) तुझे (देव-ऐनसात् पित्र्यात्) देवता संबंधी पापसे, पितरोंके संबंधके पापसे नामग्राहात् संदेश्यात्) निंदित नाम लेने और बुरा कहनेके पापसे (अभिनिःकृतात्) अपमान करनेके पापसे (ब्रह्मणः वीर्येण) ज्ञानके बलसे, (ऋग्भिः) मंत्रोंकी शक्तिसे और (ऋषीणां पयसा) ऋषियोंके अमृतसे तेरी (मुञ्चन्तु) मुक्तता करे ॥ १२ ॥

(यथा वातः) जैसा वायु (भूम्याः रेणुं अन्तरिक्षात् अभ्रं) भूमिसे धूली और अन्तरिक्षसे मेघको (च्यावयति) उडा देता है (एवा सर्वं दुर्भूतं) वैसा सब दुष्ट भाव (ब्रह्मनुत्तं अपायति) ज्ञानद्वारा निवारित होकर दूर हो जावे ॥ १३ ॥

हे कृत्ये ! (विनद्धा गर्दभी इव) बंधनसे छूटी गर्दभीके समान (नानदती अप क्राम) शब्द करती हुई दूर चली जा। (वीर्यावता ब्रह्मणा) वीर्ययुक्त ज्ञानसे (नुत्ता) वापस फेंकी हुई (इतः कर्तॄन् नक्षस्व) यहांसे कर्ताओंके पास भाग जा ॥ १४ ॥

हे कृत्ये ! (अयं पन्था त्वा अति नयामः) यह मार्ग है इससे दूर तुझे ले जाते हैं (अभि प्रहितां त्वा प्रति प्रहिण्मः) हमारे उपर फेंकी हुई तुझको हम वापस फेंक देते हैं। (तेन भञ्जती अभि याहि) उससे तोडती हुई आगे बढ (अनस्वती विश्वरूपा कुरूटिनी वाहिनी इव) रथयुक्त अनेक रूपोंसे युक्त भयंकर शब्द करती हुई सेना जैसी जाती है ॥ १५ ॥

परांक् ते ज्योतिरपथं ते अर्वागन्यत्रास्मदयना कृणुष्व ।
परेणेहि नवतिं नाव्याऽति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठाः परेहि ॥ १६ ॥
वातं इव वृक्षान् नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिषः एषाम् ।
कर्तॄन् निवृत्येतः कृत्येऽप्रजास्त्वाय बोधय ॥ १७ ॥
यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः ।
अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽमिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम् ॥ १८ ॥
उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं स्मार्यन्वविदाम कर्त्रम् ।
तदेतु यतु आभृतं तत्राश्व इव वि वर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम् ॥ १९ ॥
स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे बिभ्रा ते कृत्ये यतिधा परूंषि ।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि ॥ २० ॥ (२)
ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कस्यामि निर्दव ।
इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती ॥ २१ ॥

अर्थ— हे कृत्ये ! (ते ज्योतिः पराक्) तुझे वापस होनेके लिये आगे प्रकाश दीखे, (ते अर्वाक् अपथं) तेरे लिये इधर आनेके लिये कोई मार्ग न दीखे, (अस्मत् अन्यत्र अयना कृणुष्व) हमको छोडकर दूसरी ओर गमन कर। (नाव्याः दुर्गाः नवतिं स्रोत्याः अति परेण इहि) नौकाद्वारा दुर्गम नव्वे नदियोंके पार दूर चली जा। (मा क्षणिष्ठाः) मत मार, (परा इहि) दूर चली जा ॥ १६ ॥

हे कृत्ये ! (वातः वृक्षान् इव) वायु वृक्षोंको तोडता है ऐसे ही तू (कर्तॄन् नि मृणीहि) हिंसा करनेवालोंका नाश कर और (नि पादय) उखाड डाल। (एषां गां अश्वं पुरुषं मा उच्छिषः) इनके गौ घोडे और पुरुषोंको अवशिष्ट न रख (इतः निवृत्य) यहांसे निवृत्त होकर (अप्रजास्त्वाय बोधय) संतति नाशकी चेतावनी कृत्याके बनानेवालोंको दे ॥ १७ ॥

(यां कृत्यां ते बर्हिषि) जो घातक प्रयोग तेरे शान्तमें (यां श्मशाने) जो स्मशानमें, और (क्षेत्रे निचख्नुः) खेतमें गाड दिया हो, जो (गार्हपत्ये अग्नौ अभिचेरुः) जो गार्हपत्य अग्निमें अभिचार कर्म किया हो, (पाकं अनागसं सन्तं त्वा) तू पवित्र और निष्पाप होनेपर भी (धीरतराः) धूर्त लोगोंने जो अभिचार किया हो उसको निर्मूल करते हैं ॥ १८ ॥

(उपाहृतं अनुबुद्धं) लाया हुआ और जाना गया (निखातं वैरं स्मारि कर्त्रं अनुविदाम) गाडा हुआ वैरकरी विनाशक अभिचार प्रयोगका हमें ज्ञात हुआ है, (यतः आभृतं तत् एतु) जहांसे वह लाया हो वहां वह वापिस पहुंचे, (तत्र अश्व व वर्तताम्) वहां घोडेके समान भ्रमण करे और (कृत्याकृतः प्रजां हन्तु) अभिचारप्रयोग करनेवालेकी संतानोंका नाश करे ॥ १९ ॥

(स्वायसः असयः नः गृहे सन्ति) उत्तम लोहेकी तलवारें हमारे घरमें हैं। हे कृत्ये ! (ते परूंषि बिभ्र) तेरे जोडोंको हम जानते हैं कि वे (यतिधा) किस प्रकार और कितने हैं (उत्तिष्ठ एव, इतः परा इहि) उठ और यहांसे दूर भाग जा। हे (अज्ञाते) अज्ञात-मारण-प्रयोग ! (इह किं इच्छसि) यहां तू क्या चाहता है ? ॥ २० ॥

हे कृत्ये ! (ते ग्रीवाः पादौ च अपि कस्यामि) तेरी गर्दन और पांव मैं काट देता हूं यहांसे तू (निर्द्रव) भाग जा। (इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां) इन्द्र और अग्नि हमारी रक्षा करें। जैसी (यौ प्रजानां प्रजावती) संतानोंकी रक्षा माताएं करती हैं ॥ २१ ॥

सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु ॥ २२ ॥
भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते । दुष्कृते विद्युते देवहेतिम् ॥ २३ ॥
यद्येवथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सेतोऽष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥ २४ ॥
अभ्यक्ता अक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती रेतं परेहि ।
जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥ २५ ॥
परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय ।
मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥ २६ ॥
उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापरं इष्वा ।
उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति ॥ २७ ॥
एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ ।
यस्त्वा चकार तं प्रति ॥ २८ ॥

अर्थ— (सोमः राजा मृडिता) राजा सोम हमें सुख देवे तथा (भूतस्य पतयः नः मृडयन्तु) भूतोंके पति हमें सुख देवें ॥ २२ ॥

(भवाशर्वौ देवहेतिं विद्युतं) भव और शर्व ये देव देवोंके विद्युत् रूपी हथियारको (कृत्याकृते दुष्कृते पापकृते) घातक दुराचारी पापीके ऊपर (अस्यतां) फेंके ॥ २३ ॥

(यदि कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा) यदि मारणप्रयोग तैयार होकर अनेकरूप धारण करके (द्विपदी चतुष्पदी एयथ) दो अथवा चार पांववाली बनकर हमारे पास आजावे, तो (हे दुच्छुने ! सा इतः अष्टापदी भूत्वा पुनः परा इहि) हे दुःख देनेवाले कृत्ये ! वह तूं यहांसे आठ पांववाली- अतिशीघ्र चलनेवाली होकर फिर वापिस चली जा ॥ २४ ॥

(अभ्यक्ता अक्ता स्वरंकृता) खूब तेल लगाई और सुशोभित की गई (सर्वं दुरितं भरन्ती) सब दुर्दशाको देनेवाली (परा इहि) दूर चली जा । (दुहिता स्वं पितरं इव) जैसी पुत्री अपने पिताको जानती है उस तरह तू (कर्तारं जानीहि) अपने कर्ताको जान ॥ २५ ॥

हे कृत्ये ! (परा इहि) दूर हो जा । (मा तिष्ठ) यहां मत ठहर । (विद्धस्य इव पदं नय) घायल हुए शिकारके स्थानको जैसा शिकारी जाता है वैसेही तू अपने स्थानको पहुंच, (मृगः सः मृगयुः त्वं) वह मृग है और तू शिकारी है (त्वा निकर्तुं न अर्हसि) इसको काटनेके लिये तू योग्य नहीं हो, अतः तू वापिस जा ॥ २६ ॥

(पूर्वासिनं अपरः प्रति आदाय इष्वा हन्ति) पहिले बैठे वीरको दूसरा शत्रु पकडकर बाणसे मारता है और (पूर्वस्य निघ्नतः अपरः प्रति नि हन्ति) और पहिला मारने लगता है उस समय दूसरा उसको भी पीटता है, इस तरह परस्पर आघात करते है ॥ २७ ॥

(एतद् हि मे वचः शृणु) यह मेरा भाषण सुन (अथ इहि यतः एयथ) और जा जहांसे आयी थी (यः त्वा चकार तं प्रति) जिसने तुझे बनाया उसके पास घातक प्रयोग वापिस चला जावे ॥ २८ ॥

×

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः ।
यत्र यत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पूर्णाल्लघीयसी भव ॥ २९ ॥
यदि स्थ तमसाऽऽवृता जालेनाभिहिता इव ।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्तृ प्र हिण्मसि ॥ ३० ॥
कृत्याकृतो बलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम् ।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥ ३१ ॥
यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् ।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृतां कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥ ३२ ॥ (३)

अर्थ— हे कृत्ये ! तू (अनागः-हत्या भीमा) निरपराधीका वध करनेवाली भयंकर है (नः गां अश्वं पुरुषं मा वधीः) हमारे गौ घोडे और मनुष्योंका वध न कर । (यत्र यत्र निहिता असि) जहां जहां तू रखी गयी है (ततः त्वा उत्थापयामसि) वहांसे तुझे उखाड देते हैं । (तू पूर्णात् लघीयसी भव) तू पत्तेसे भी छोटी हो जा ॥ २९ ॥

(यदि तमसा आवृताः स्थ) यदि तुम अंधेरेसे आच्छादित हुए हो जैसे (जालेन अभिहिता इव) जालसे घेरे जाते हैं तो तुमसे (सर्वाः कृत्याः इतः संलुप्य) सब घातक प्रयोग यहांसे लुप्त करके उनको मैं (पुनः कर्त्रे इतः प्र हिण्मसि) फिर कर्ताके प्रति यहांसे मैं वापिस भेजता हूं ॥ ३० ॥

हे कृत्ये ! (कृत्याकृतः बलगिनः) घातक प्रयोग करनेवाले बलशाली दुष्ट (प्रजां अभि निः कारिणः मृणीहि) जो प्रजाका नाश करते हैं उनकाही तू नाश कर । (अमून् कृत्याकृतः उच्छिषः) उन घातकोंमेंसे एक भी न बचे । उन सबको (जहि) मार ॥ ३१ ॥

(यथा सूर्यः तमसः परि मुच्यते) जैसा सूर्य अन्धकारसे छूटता है, (रात्रिं उषसः केतून् जहाति) रात्री तथा उषाके ध्वजोंको त्याग देता है, (एव अहं कृत्याकृता कृतं) इस तरह मैं घातकके द्वारा किया हुआ, (दुर्भूतं कर्त्रे जहामि ।) दुष्ट कृत्य त्याग देता हूं । जैसा (हस्ती रजः इव) हाती धूलीको फेंकता है, उतने सहज भावसे मैं शत्रुके दुष्ट घातक प्रयोगको दूर करता हूं ॥ ३२ ॥

कृत्या-प्रयोग ।

'कृत्या' नाम उस प्रयोगका है कि जिसके द्वारा किसीका मारण किया जाता है । किसीके घरमें, खेतमें, खानपानके वस्तुमें, कपडोंमें अथवा किसी अन्य स्थानमें कुछ मारक वस्तु रखी जाती है जिसके परिणामसे वह मर जाता है । इस प्रयोगको कृत्या प्रयोग, अथवा मारण प्रयोग कहते हैं ।

यह कुछ आँख नाक कानवाली मूर्ति करते हैं, बडी छोमावाली मूर्ति बनाते हैं, जो हाथमें पकडे वह मर जाता है । मूर्तिके अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तु भी निर्माण की जाती है जिससे मारण हो जाता है ।

इस प्रयोगमें क्या होता है, इसका विधि क्या है, इसका किसीको भी आज पता नहीं है, आज इसके ग्रंथ भी उपलब्ध नहीं हैं । अतः इस प्रयोगके विषयमें निश्चित रूपसे हम कुछ कह नहीं सकते ।

इस प्रकारके प्रयोगोंका परिणाम अपने लोगोंपर न हो और यह घातक प्रयोग अपने लोगोंसे वापिस चला जाय, इस कार्यके लिये यह सूक्त है । इस सूक्तके इच्छाशक्तिपूर्वक पठनसे जो एक मानसिक बल पैदा होता है, उस बलसे उक्त कृत्या-प्रयोग पीछे हटता है और जिसने उस कृत्याका निर्माण किया था उसपर जाकर परिणाम करता है ।

सब मंत्रोंका आशय यही है और वह आशय स्पष्ट है । अब इसको बनाना कैसा, और वापिस लौटाना कैसा यह तो एक बडा खोजका विषय है । मंत्रशास्त्रज्ञ कोई सच्चा जानकार हो वही इस विषयमें कह सकता है । अतः इस विषयमें हम कुछ भी नहीं लिख सकते, ऐसा कहते हुए हम इस सूक्तका विवरण यहांही समाप्त करते हैं ।

(२) केन-सूक्तम् ।

स्थूल शरीरमें अवयवोंके संबंधमें प्रश्न ।

केन॒ पाष्णा॒ आभृ॑ते पूरु॒षस्य॒ केन॑ मां॒सं संभृ॑तं॒ केन॑ गु॒ल्फौ ।
केना॑ङ्गु॒लीः पेश॑नीः॒ केन॒ खानि॒ केनो॒च्छ्लङ्खौ॑ मध्य॒तः कः प्र॑तिष्ठाम् ॥ १ ॥
कस्मा॒न्नु गु॒ल्फावधरा॑वकृण्वन्नष्ठी॒वन्ता॑वुत्त॒रौ पु॑रु॒षस्य॑ ।
जङ्घे॑ नि॒रृत्य॒ न्य॑दधुः क॒ स्विज्जानु॑नोः सं॒धा क उ॒ तच्चि॑केत ॥ २ ॥
च॒तुष्टयं युज्यते संहि॒तान्तं॑ जानु॒भ्यामू॒र्ध्वं शि॑थि॒रं कब॑न्धम् ।
श्रोणी॒ यदू॒रू क उ॒ तज्ज॑जान॒ याभ्यां॑ कु॒सिन्धं॒ सुदृ॑ढं ब॒भूव॑ ॥ ३ ॥
कति॑ दे॒वाः कति॑मे त आ॑स॒न् य उरो॑ ग्री॒वाश्चि॑क्यु॒ः पूरु॑षस्य ।
कति॒ स्तनौ॒ व्य॑दधुः कः क॑फो॒डौ कति॑ स्क॒न्धान् कति॑ पृ॒ष्टीर॑चिन्वन् ॥ ४ ॥
को अ॑स्य बा॒हू सम॑भरद् वी॒र्य॑करवादिति॑ ।
अंसौ॒ को अ॑स्य त॒द्देवः॑ कु॒सिन्धे॒ अध्या द॑धौ ॥ ५ ॥

अर्थ— (पूरुषस्य पार्ष्णी केन आभृते ?) मनुष्यकी एड़ियां किसने बनाई ? (केन मांसं संभृतं ?) किसने मांस भर दिया ? (केन गुल्फौ) किसने टखने बनाये ? (केन पेशनीः अंगुलीः ?) किसने सुंदर अंगुलियां बनाई ? (केन खानि ?) किसने इंद्रियोंके सुराख बनाये ? (केन उच्छ्लंखौ ?) किसने पांवके तलवे जोड़ दिये ? (मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ?) बीचमें कौन आधार देता है ? ॥ १ ॥

(नु कस्मात् अधरौ गुल्फौ अकृण्वन् ?) भला किसने नीचेके टखने बनाये हैं ? और (पुरुषस्य उत्तरौ अष्ठीवन्तौ) मनुष्यके ऊपरके घुटने ? (जंघे निर्ऋत्य कः स्विद् न्यदधुः ?) जांघे अलग अलग बनाकर कहां भला जमा दी हैं (जानुनोः संधी क उ तद् चिकेत ?) जानुओंके संधीका किसने भला ढांचा बनाया ? ॥ २ ॥

(चतुष्टयं संहितान्तं शिथिरं कबंधं जानुभ्यां ऊर्ध्वं युज्यते ।) चार प्रकारसे अंतमें जोड़ा हुआ शिथिल (ढीला) धड़ पेट घुटनोंके ऊपर जोड़ा गया है । (श्रोणी, यद् ऊरू, क उ तद् जजान ? याभ्यां कुसिंधं सुदृढं बभूव) कुल्हे और जांघे किसने भला यह सब बनाया है जिससे धड़ बड़ा दृढ हुआ है ॥ ३ ॥

(ते कति कतमे देवाः आसन् ये पुरुषस्य उरः ग्रीवाः चिक्युः ?) वे कितने और कौनसे देव थे, जिन्होंने मनुष्यकी छाति और गलेको एकत्र किया ? (कति स्तनौ व्यदधुः ?) कितनोंने स्तनोंको बनाया ? (कः कफोडौ ?) किसने कोहनियां बनाई ? (कति स्कंधान् ?) कितनोंने कंधोंको बनाया ? (कति पृष्टीः अचिन्वन् ?) कितनोंने पसलियोंको जोड़ दिया ? ॥ ४ ॥

(वीर्यं करवात् इति, अस्य बाहू कः समभरत् ?) यह पराक्रम करे इसलिये, इसके बाहू किसने भर दिये ? (कः देवः अस्य तद् अंसौ कुसिंधे अध्यादधौ ?) किस देवने इसके उन कंधोंको धड़में धर दिया है ? ॥ ५ ॥

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् ।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥ ६ ॥
हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् ।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥
मस्तिष्कमस्य यतमो ललाट कपाटिकां प्रथमो यः कपालम् ।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥
प्रियाऽप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः ।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद्बिभर्ति पूरुषः ॥ ९ ॥
आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः ।
राद्धिः समृद्धिरभ्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥
को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषुवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥

अर्थ— (इमौ कर्णौ, नासिके, चक्षणी, मुखं, सप्त खानि शीर्षणि कः वि ततर्द ?) ये दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख मिलकर सात सुराख सिरमें किसने खोदे हैं ? (येषां विजयस्य महिनि चतुष्पादः द्विपदः यामं पुरुत्रा यन्ति ।) जिनके विजयकी महिमामें चतुष्पाद और द्विपाद अपना मार्ग बहुत प्रकार आक्रमण करते हैं ॥ ६ ॥

(हि पुरूचीं जिह्वां हन्वोः अदधात् ।) बहुत चलनेवाली जीभके दोनों जबड़ोंके बीचमें रख दिया है- (अध महीं वाचं अधि शिश्राय !) और प्रभावशाली वाणीको उसमें आश्रित किया है । (अपः वसानः सः भुवनेषु अन्तः आ वरीवर्ति !) कर्मोंको धारण करनेवाला वह सब भुवनोंके अंदर गुप्त रहा है । (क उ तत् चिकेत ?) कौन भला उसको जानता है ? ॥ ७ ॥

(अस्य पूरुषस्य मस्तिष्कं, ललाटं, कपाटिकां, कपालं, हन्वोः चित्यं, यः यतमः प्रथमः चित्वा, दिवं रुरोह, सः देवः कतमः ?) इस मनुष्यका मस्तिष्क, माथा, सिरका पिछला भाग, कपाल और जबड़ोंका संचय, आदिको जिस पहिले देवने बनाया और जो द्युलोकमें चढ गया, वह देव कौनसा है । ॥ ८ ॥

(बहुला प्रियाऽप्रियाणि, स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः आनंदान् नंदान् च, उग्रः पुरुषः कस्माद् बिभर्ति ?) बहुत प्रिय और अप्रिय बातें, निद्रा, तन्द्रायें और थकावटें, आनंदों, और हर्षोंको यह प्रचंड पुरुष किस कारण धारण करता है ? ॥ ९ ॥

(आर्तिः अवर्तिः, निर्ऋतिः अमतिः, पुरुषे कुतः नु) पीडा, दरिद्रता, बीमारी, कुमति मनुष्यमें कहांसे होती है (राद्धिः समृद्धिः, अ-वि-ऋद्धिः, मतिः, उदितयः कुतः ?) पूर्णता, समृद्धि, अ-हीनता, वृद्धि, और उदयकी प्रवृत्ति कहांसे होती है ? ॥ १० ॥

(अस्मिन् पुरुषे वि-सु-वृतः, पुरु-वृत सिंधु-सृत्याय जाताः, अरुणाः, लोहिनीः, ताम्रधूम्राः, ऊर्ध्वाः, अवाचीः, तिरश्चीः, तीव्राः अपः कः व्यदधात् ?) इस मनुष्यमें विशेष घूमनेवाले, सर्वत्र घूमनेवाले, नदीके समान बहनेके लिये बने हुए, लाल रंगवाले, लोहेको साथ ले जानेवाले, तांबेके धूयेंके समान रंगवाले, ऊपर, नीचे और तिरछे, वेगसे चलनेवाले जलप्रवाह (अर्थात् रक्तके प्रवाह) किसने बनाये हैं ॥ ११ ॥

को अस्मिन् रूपमदधात् को महीनं च नाम च ।
गातुं को अस्मिन् कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे ॥ १२ ॥
को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानम् ।
समानमस्मिन् को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे ॥ १३ ॥
को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे ।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥ १४ ॥
को अस्मै वासः पर्यदधात् को अस्यायुरकल्पयत् ।
बलं को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज्जवम् ॥ १५ ॥
केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे ।
उषसं केनान्वैद्धं केन सायंभवं ददे ॥ १६ ॥
को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरातायतामिति ।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को वाणं को नृतो दधौ ॥ १७ ॥
केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद्दिवम् ।
केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥ १८ ॥

अर्थ— (अस्मिन् रूपं कः अदधात् ?) इसमें रूप किसने रखा है ? (महीनं च नाम च कः अदधात्) महिमा और नाम यश किसने रखा है ? (अस्मिन् गातुं कः ?) इसमें गति किसने रखी है ? (कः केतुं ?) किसने ज्ञान रखा है ? और (पुरुष चरित्राणि कः अदधात् ?) मनुष्यमें चरित्र किसने रखे हैं ? ॥ १२ ॥

(अस्मिन् कः प्राणं अवयत् ?) इसमें किसने प्राण चलाया है ? (कः अपानं व्यानं उ ?) किसने अपान और व्यानको लगाया है । (अस्मिन् पूरुषे कः देवः समानं अधि शिश्राय ?) इस पुरुषमें किस देवने समानको ठहराया है ? ॥ १३ ॥

(कः एकः देवः अस्मिन् पूरुषे यज्ञं अदधात् ?) किस एक देवने इस पुरुषमें यज्ञ रख दिया है ? (कः अस्मिन् सत्यं ?) कौन इसमें सत्य रखता है ? (कः अन्-ऋतम् ?) कौन असत्य रखता है ? (कुत मृत्युः) कहांसे मृत्यु होता है और (कुतः अमृतम् ?) कहांसे अमरपन मिलता है ॥ १४ ॥

(अस्मै वासः कः परि-अदधात्) इसके लिये कपडे किसने पहनाये हैं ? कपडे=शरीर । (अस्य आयुः कः अकल्पयत् ?) इसकी आयु किसने संकल्पित की ? (अस्मै बलं कः प्रायच्छत् ?) इसको बल किसने दिया ? और (अस्य जवं कः अकल्पयत् ?) इसका वेग किसने निश्चित किया है ? ॥ १५ ॥

(केन आपः अन्वतनुत ?) किसने जल फलाया ? (केन अहः रुचे अकरोत् ?) किसने दिन प्रकाशके लिये बनाया (केन उषसं अनु ऐद्ध ?) किसने उषाको चमकाया ? (केन सायंभवं ददे ?) किसने सायंकाल दिया है ? ॥ १६ ॥

(तन्तुः मा तायतां इति, अस्मिन् रेतः कः नि-अदधात् ?) प्रजातंतु चलता रहे इसलिये, इसमें वीर्य किसने रख दिया है (अस्मिन् मेधां कः अधि-औहत् ?) इसमें बुद्धि किसने लगा दी है ? (कः वाणं ?) किसने वाणी रखी है ? (कः नृतः दधौ ?) किसने नृत्यका भाव रखा है ? ॥ १७ ॥

(केन इमां भूमिं और्णोत् ?) किसने इस भूमिको आच्छादित किया है ? (केन दिवं पर्यभवत् ?) किसने द्युलोकको घेरा है ? (केन महा पर्वतान् अभि ?) किसने महत्वसे पहाडोंको ढंका है ? (पूरुषः केन कर्माणि ?) पुरुष किससे कर्मोंको करता है ? ॥ १८ ॥

केन॑ पर्जन्य॒मन्वे॑ति॒ केन॒ सोमं॑ विचक्ष॒णम् ।
केन॑ य॒ज्ञं च॑ श्र॒द्धां च॒ केनास्मि॒न्निहि॑तं॒ मनः॑ ॥ १९ ॥
केन॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ केने॒मं पर॑मे॒ष्ठिन॑म् ।
केने॒मम॒ग्निं पूरु॑षः॒ केन॑ संवत्स॒रं मि॑मे ॥ २० ॥
ब्रह्म॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ ब्रह्मे॒मं पर॑मे॒ष्ठिन॑म् ।
ब्रह्मे॒मम॒ग्निं पूरु॑षो॒ ब्रह्म॑ संवत्स॒रं मि॑मे ॥ २१ ॥
केन॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ केन॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ।
केने॒दम॒न्यन्न॑क्ष॒त्रं केन॒ सत् क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २२ ॥
ब्रह्म॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ ब्रह्म॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ।
ब्रह्मे॒दम॒न्यन्न॑क्ष॒त्रं ब्रह्म॒ सत्क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २३ ॥
केने॒यं भूमि॒र्विहि॑ता॒ केन॒ द्यौरु॑त्त॒रा हि॒ता ।
केने॒दमू॒र्ध्वं ति॒र्यक्चा॒न्तरि॑क्षं॒ व्यचो॑ हि॒तम् ॥ २४ ॥

अर्थ— (पर्जन्यं केन अन्वेति ?) पर्जन्यको किससे प्राप्त करता है ? (विचक्षणं सोमं केन ?) विलक्षण सोमको किससे पाता है ? (केन यज्ञं च श्रद्धां च ?) किससे यज्ञ और श्रद्धाको प्राप्त करता है ? (अस्मिन् मनः केन निहितं) इसमें मन किसने रखा है ? ॥ १९ ॥

(केन श्रोत्रियं आप्नोति ?) किससे ज्ञानीको प्राप्त करता है ? (केन इमं परमेष्ठिनम् ?) किससे इस परमात्माको प्राप्त करता है ? (पूरुषः केन इमं अग्निं) मनुष्य किससे इस अग्निको प्राप्त करता है ? (केन संवत्सरं ममे) किससे संवत्सर—कालको मापता है ? ॥ २० ॥

(ब्रह्म श्रोत्रियं आप्नोति ।) ज्ञान ज्ञानीको प्राप्त करता है । (ब्रह्म इमं परमेष्ठिनम् ।) ज्ञान इस परमात्माको प्राप्त करता है । (पूरुषः ब्रह्म इमं अग्निम् ।) मनुष्य ज्ञानसे इस अग्निको प्राप्त करता है । (ब्रह्म संवत्सरं ममे ।) ज्ञान ही कालको मापता है । ॥ २१ ॥

(केन देवान् अनु क्षियति ?) किससे देवोंको अनुकूल बनाकर बसाया जाता है ? (केन दैव-जनीः विशः ?) किससे दिव्यजन रूप प्रजाको अनुकूल बनाकर बसाया जाता है ? (केन सत् क्षत्रं उच्यते ?) किससे उत्तम क्षात्र कहा जाता है ? (केन इदं अन्यत् न-क्षत्रम् ।) किससे यह दूसरा न-क्षत्र है ऐसा कहते हैं ? ॥ २२ ॥

(ब्रह्म देवान् अनु क्षियति ।) ज्ञान ही देवोंको अनुकूल बनाकर बसाता है । (ब्रह्म दैव-जनीः विशः) ज्ञान ही दिव्यजन रूप प्रजाको अनुकूल बनाकर बसाता है । (ब्रह्म सत् क्षत्रं उच्यते ।) ज्ञान ही उत्तम क्षात्र है ऐसा कहा जाता है । (ब्रह्म इदं अन्यत् न-क्षत्रम् ।) ज्ञान यह दूसरा न-क्षत्र अर्थात् क्षात्रसे भिन्न अन्य बल है ॥ २३ ॥

(केन इयं भूमिः विहिता ?) किसने यह भूमि विशेष रीतिसे रखी है । (केन द्यौः उत्तरा हिता ?) किसने द्युलोक ऊपर रखा है ? (केन इदं अंतरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक् व्यचः च हितम् ?) किसने यह अंतरिक्ष ऊपर, तिरछा और फैला हुआ रखा है ? ॥ २४ ॥

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता । ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥२५॥
मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् । मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥२६॥
तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः । तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥२७॥
ऊर्ध्वो न सृष्टा ३ स्तिर्यङ् नु सृष्टा ३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ ३ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् । तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा । पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशेत्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते । तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् । पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥३३॥

अर्थ— (ब्रह्मणा भूमिः विहिता) ब्रह्मने भूमि विशेष प्रकार रखी है (ब्रह्म द्यौः उत्तरा हिता ।) ब्रह्मने द्युलोक ऊपर रखा है। (ब्रह्म इदं अन्तरिक्षं ऊर्ध्वं, तिर्यक्, व्यचः च हितम् ।) ब्रह्मने ही यह अंतरिक्ष ऊपर, तिरछा और फैला हुआ रखा है ॥ २५ ॥

(अथर्वा अस्य मूर्धानं, यत् च हृदयं, संसीव्य) अ-थर्वा अर्थात् निश्चल योगी अपना सिर, और जो हृदय है, उसको आपसमें सीकर; (पवमानः शीर्षतः अधि, मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः प्रैरयत् ।) प्राण सिरके बीचमें, परंतु मस्तिष्कके ऊपर, प्रेरित करता है ॥ २६ ॥

(तद् वा अथर्वणः शिरः समुब्जितः देव-कोशः ।) यह निश्चयसे योगीका सिर देवोंका सुरक्षित खजाना है। (तत् शिरः प्राणः, अन्नं, अथो मनः अभि रक्षति ।) उस सिरका रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं ॥ २७ ॥

(पुरुषः ऊर्ध्वः नु सृष्टाः ।) पुरुष ऊपर निश्चयसे फैला है। (तिर्यक् नु सृष्टाः) निश्चयसे तिरछा फैला है। तात्पर्य (पुरुषः सर्वाः दिशः आबभूव ।) पुरुष सब दिशाओंमें है। (यः ब्रह्मणः पुरं वेद ।) जो ब्रह्मकी नगरी जानता है। (यस्याः पुरुष उच्यते ।) जिस नगरीके कारण ही उसको पुरुष कहा जाता है ॥ २८ ॥

(यः वै अमृतेन आवृतां तां ब्रह्मणः पुरं वेद ।) जो निश्चयसे अमृतसे परिपूर्ण उस ब्रह्मकी नगरीको जानता है। (तस्मै ब्रह्म ब्राह्माः च चक्षुः प्राणं, प्रजां च ददुः) उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु, प्राण और प्रजा देते आये हैं ॥ २९ ॥

(यस्याः पुरुष उच्यते, ब्रह्मणः पुरं यः वेद ।) जिसके कारण (आत्माको) पुरुष कहते हैं, उस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है; (तं जरसः पुरा चक्षुः न जहाति, न वै प्राणः ।) उसको वृद्धावस्थाके पूर्व चक्षु छोडता नहीं, और न प्राण छोडता है ॥ ३० ॥

(अष्टा-चक्रा, नव-द्वारा, अयोध्या देवानां पूः ।) जिसमें आठ चक्र हैं, और नौ द्वार हैं, ऐसी यह अयोध्या, देवोंकी नगरी है (तस्यां हिरण्ययः कोशः, ज्योतिषा आवृतः स्वर्गः ।) उसमें तेजस्वी कोश है, जो तेजसे परिपूर्ण स्वर्ग है ॥ ३१ ॥

(त्रि-अरे, त्रि-प्रतिष्ठिते, तस्मिन् तस्मिन् हिरण्यये कोशे, यत् आत्मन्वत् यक्षं तद् वै ब्रह्म-विदः विदुः) तीन आरोंसे युक्त, तीन केंद्रोंमें स्थिर, ऐसे उसी तेजस्वी कोशमें, जो आत्मवान् यक्ष है, उसको निश्चयसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं ॥ ३२ ॥

(प्रभ्राजमानां, हरिणीं, यशसा संपरिवृतां, अपराजितां, हिरण्ययीं पुरं, ब्रह्म आविवेश ।) तेजस्वी, दुःख हरण करनेवाली, यशसे परिपूर्ण, कभी पराजित न हुई, ऐसी प्रकाशमय पुरीमें ब्रह्म आविष्ट होता है ॥ ३३ ॥

केन-सूक्तका विचार ।

(१) किसने अवयव बनाये ?

चतुर्थ मंत्रमें " कति देवाः " देव कितने हैं, जो मनुष्यके अवयव बनानेवाले हैं ? यह प्रश्न आता है। इससे पूर्व तथा उत्तर मंत्रोंमें भी " देव " शब्दका अनुसंधान करके अर्थ करना चाहिये। " मनुष्यकी एढियां किस देवने बनायीं हैं?" इत्यादि प्रकार सर्वत्र अर्थ समझना उचित है। मनुष्यका शरीर बनानेवाले देव एक हैं वा अनेक हैं और किस देवने कौनसा भाग, अवयव तथा इंद्रिय बनाया है ? यह प्रश्नोंका तात्पर्य है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये।

(२) ज्ञानेंद्रियों और मानसिक भावनाओंके संबंधमें प्रश्न ।

मंत्र छः में सात इंद्रियोंके नाम कहे हैं। दो कान, दो नाक, दो आंख और एक मुख। ये सात ज्ञानके इंद्रिय हैं। वेदमें अन्यत्र इनको ही १ सप्त ऋषि, २ सप्त अश्व, ३ सप्त किरण, ४ सप्त अग्नि, ५ सप्त जिह्वा, ६ सप्त प्राण आदि नामोंसे वर्णन किया है। उस उस स्थानमें यही अर्थ जानकर मंत्रका अर्थ करना चाहिये। गुदा और मूत्रद्वारके और दो सुराख हैं। सब मिलकर नौ सुराख होते हैं। ये ही इस शरीररूपी नगरीके नौ महाद्वार हैं। मुख पूर्वद्वार है, गुदा पश्चिमद्वार है, अन्यद्वार इससे छोटे हैं। (इसी सूक्तका मंत्र ३१ देखो)

यद्यपि ...पुरुष " शब्द (पुर्-वस) उक्त नगरीमें बसनेवालेका बोध कराता है, इसलिये सर्व साधारण प्राणिमात्रका वाचक होता है, तथापि यहांका वर्णन विशेषतः मनुष्यके शरीरकाही समझना उचित है। " चतुष्पाद् और द्विपाद् " शब्दोंसे संपूर्ण प्राणिमात्रका बोध मंत्र ६ में लेना आवश्यक ही है, इस प्रकार अन्य मंत्रोंमें लेनेसे कोई हानि नहीं है, तथापि मंत्र ७ में जो वाणीका वर्णन है वह मनुष्यकी वाणीका ही है, क्योंकि सब प्राणियोंमें यह वाक्शक्ति वैसी नहीं है, जैसी मनुष्यप्राणीमें पूर्ण विकसित हो गई है। मंत्र ९, १० में " मति अमति " आदि शब्द मनुष्यका ही वर्णन कर रहे हैं। इस प्रकार यद्यपि मुख्यतः सब वर्णन मनुष्यका है, तथापि प्रसंगविशेषमें जो मंत्र सामान्य अर्थके बोधक हैं, वे सर्व सामान्य प्राणिजातिके विषयमें समझनेमें कोई हानि नहीं है।

मंत्र आठमें " स्वर्गपर चढनेवाला देव कौनसा है ? यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह मंत्र जीवात्माका मार्ग बता रहा है। इस प्रश्नका दूसरा एक अनुक्त भाग है वह यह है कि, " नरकमें कौन गिर जाता है ? " तात्पर्य जीव स्वर्गमें क्यों जाता है ? और नरकमें क्यों गिरता है ?

मंत्र ९ और १० में अच्छे और बुरे दोनों पहलुओंके प्रश्न हैं। १ अप्रिय, स्वप्न, संबाध, तंद्रो, आति, अवति, निर्ऋति, अमति ये शब्द हीन अवस्था बता रहे हैं, २ और प्रिय, आनंद, नंद, राद्धि, समृद्धि अभ्युद्धि, मति, उपेति ये शब्द उच्च अवस्था बता रहे हैं। दोनों स्थानोंमें आठ आठ शब्द हैं और उनका परस्पर संबंध भी है। पाठक विचार करनेपर उस संबंधको जान सकते हैं। तथा—

(३) रुधिर, प्राण, चारित्र्य, अमरत्व आदिके विषयमें प्रश्न ।

मंत्र ११ में शरीरमें रक्तका प्रवाह किसने संचारित किया है ? यह प्रश्न है। प्रायः लोग समझते हैं, कि शरीरमें रुधिराभिसरणका तत्त्व यूरोपके डाक्टरोंने ढूंढा है। परंतु इस अथर्ववेदके मंत्रोंमें यह स्पष्ट ही है। रुधिरका नाम इस मंत्रमें " लोहिनीः आपः " है, इसका अर्थ " (लोह-नीः) लोहेको अपने साथ ले जानेवाला (आपः) जल " ऐसा होता है। अर्थात् रुधिरमें जल है और उसके साथ लोहा भी है। लोहा होनेके कारण उसका यह लाल रंग है। लोहे जिसमें है वही " लोहित " (लोह+इत) होता है। दो प्रकारका रक्त होता है एक " अरुणाः आपः " अर्थात् लाल रंगवाला और दूसरा " ताम्र-धूम्राः आपः " तांबेके जंगके समान मलिन रंगवाला। पहिला शुद्ध रक्त है जो हृदयसे बाहिर जाता है और सब शरीरमें ऊपर, नीचे और चारों ओर व्यापता है। दूसरा मलिन रंगका रक्त है, जो शरीरमें भ्रमण करके और वहांकी शुद्धता करनेके पश्चात् हृदयकी ओर वापिस आता है। इस प्रकारकी यह

[illegible] र्यकारक रुधिराभिसरण की योजना किसने की है, यह [illegible] यहां किया है। किस देवताका यह कार्य है? पाठको सोचिये।

मंत्र १२ में प्रश्न पूछा है, कि, " मनुष्यमें सौन्दर्य, महत्त्व, यश, प्रयत्न, शक्ति, ज्ञान और चारित्र्य किस देवताके प्रभावसे दिखाई देता है? " इस मंत्रके " चरित्र " शब्दका अर्थ कई लोग " पांव " ऐसा समझते हैं, परंतु इस मंत्रके पूर्वापर संबंधसे यह अर्थ नहीं दिखाई देता। क्योंकि स्थूल पांवका वर्णन पहिले मंत्रमें हो चुका है। यहां सूक्ष्म गुणधर्मोंका वर्णन चला है। तथा महिमा, यश, ज्ञान आदिके साथ चारित्र्य ही अर्थ ठीक दिखाई देता है।

[illegible]त्र १५ में " वासः " शब्द " कपडों " का वाचक है। यह जीवात्माके ऊपर जो शरीररूपी कपडे हैं, उनका संबंध है, धोती आदिका नहीं। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि— " जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको छोडकर नये ग्रहण करता है उसी प्रकार शरीरका स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर नये शरीर धारण करता है। (गीता २।२२)" इसमें शरीरकी तुलना कपडोंके साथ की है। इस गीताके श्लोकमें " वासांसि " अर्थात् " वासः " यही शब्द है, इसलिये गीताकी यह कल्पना इस अथर्ववेदके मंत्रसे ली हुई है। कई विद्वान् यहां इस मंत्रमें " वासः " का अर्थ " निवास " करते हैं, परंतु " परि-अदधत्-(पहनाया) " यह क्रिया बता रही है कि यहां कपडोंका पहनाना अभीष्ट है। इस आत्मापर शरीररूपी कपडे किसने पहनाये? यह इस प्रश्नका सीधा तात्पर्य है।

(४) मन, वाणी, कर्म, मेधा, श्रद्धा तथा बाह्य जगत् के विषयमें प्रश्न।

(समष्टि-व्यष्टिका संबंध)

मंत्र १५ तक व्यक्तिके शरीरके संबंधमें विविध प्रश्न हो रहे थे, परंतु अब मंत्र १६ से जगत्के विषयमें प्रश्न पूछे जा रहे हैं, इसके आगे मंत्र २१ और २२ में समाज और राष्ट्रके विषयमें भी प्रश्न आ जांयगे। तात्पर्य इससे वेदकी शैलीका पता लगता है, (१) अध्यात्ममें व्यक्तिका संबंध, (२) अधिभूतमें प्राणिसमष्टिका अर्थात् समाजका संबंध, और (३) अधिदैवतमें संपूर्ण जगत्का संबंध है। वेद व्यक्तिसे प्रारंभ करता है और चलते चलते सम्पूर्ण जगतका ज्ञान यथाक्रम देता है। यही वेदकी शैली है। जो इसको नहीं समझते, उनके ध्यानमें उक्त प्रश्नोंकी संगति नहीं आती। इसलिये इस शैलीको समझना चाहिये।

वेद समझता है, कि जैसा एक अवयव हाथ पांव आदि शरीरके साथ जुडा है, उसी प्रकार एक शरीर समाजके साथ संयुक्त हुआ है और समाज संपूर्ण जगत्के साथ मिला है। " व्यक्ति समाज और जगत् " ये अलग नहीं हो सकते। हाथ पांव आदि अवयव जैसे शरीरमें हैं, उसी प्रकार व्यक्ति और कुटुंब समाजके साथ लगे हैं और सब प्राणियोंकी समष्टि संपूर्ण जगतसे संलग्न हो गई है। इसलिये तीनों स्थानोंमें नियम एक जैसे ही हैं। (चित्र अगले २० में पृष्ठपर देखो.)

सोलहवें मंत्रमें " आप्, अहः उषा, सायंभव " ये चार शब्द क्रमशः बाह्य जगत्में " जल, दिन, उषःकाल और सायंकाल " के वाचक हैं, तथा व्यक्तिके शरीरमें " जीवन, जागृति, इच्छा और विश्रांति " के सूचक हैं। इसलिये इस सोलहवें मंत्रका भाव दोनों प्रकार समझना उचित है। ये चार भाव समाज और राष्ट्रके विषयमें भी होते हैं, सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय जागृति, जनताकी इच्छा और लोगोंका आराम ये भाव सामुदयिक जीवन में हैं। पाठक इस प्रकार इस मंत्रका भाव समझें।

मंत्र १७ में फिर वैयक्तिक बातका उल्लेख है। प्रजातंतु अर्थात् संततिका तांता (धागा) टूट न जाय, इसलिये शरीरमें वीर्य है यह बात यहां स्पष्ट कही है। तैत्तिरीय उपनिषद्में " प्रजातंतुं मा व्यवच्छेत्सीः (तै० १। ११।१) " संततिका तांता न तोड। यह उपदेश है। वही भाव यहां सूचित किया है। यहां दूसरी बात सूचित होती है कि वीर्य यौंही खोनेके लिये नहीं है, परंतु उत्तम संतति करनेके लियेही है। इसलिये कामोपभोगके अतिरेकमें वीर्यका नाश नहीं करना चाहिये, प्रत्युत उसको सुरक्षित करके उत्तम संतति उत्पन्न करनेमें ही खर्च करना चाहिये। इसी सूक्तमें आगे जाकर मंत्र २९ में कहेंगे कि " जो ब्रह्मकी नगरीको जानता है उसको ब्रह्म और इतर देव उत्तम इंद्रिय, दीर्घ जीवन और उत्तम संतति देते हैं।" उस मंत्रके अनुसंधानमें इस मंत्रके प्रश्नको देखना चाहिये। वंश अथवा कुलका क्षय नहीं होना चाहिये, और संततिका क्रम चलता रहना चाहिये; इतना नहीं परंतु उत्तरोत्तर संततिमें शुभगुणोंकी वृद्धि होनी चाहिये इसलिये उक्त सूचना दी है। अज्ञानी लोग वीर्यका नाश दुर्व्यसनोंमें कर देते हैं, और उससे अपना और कुलका घात करते हैं;

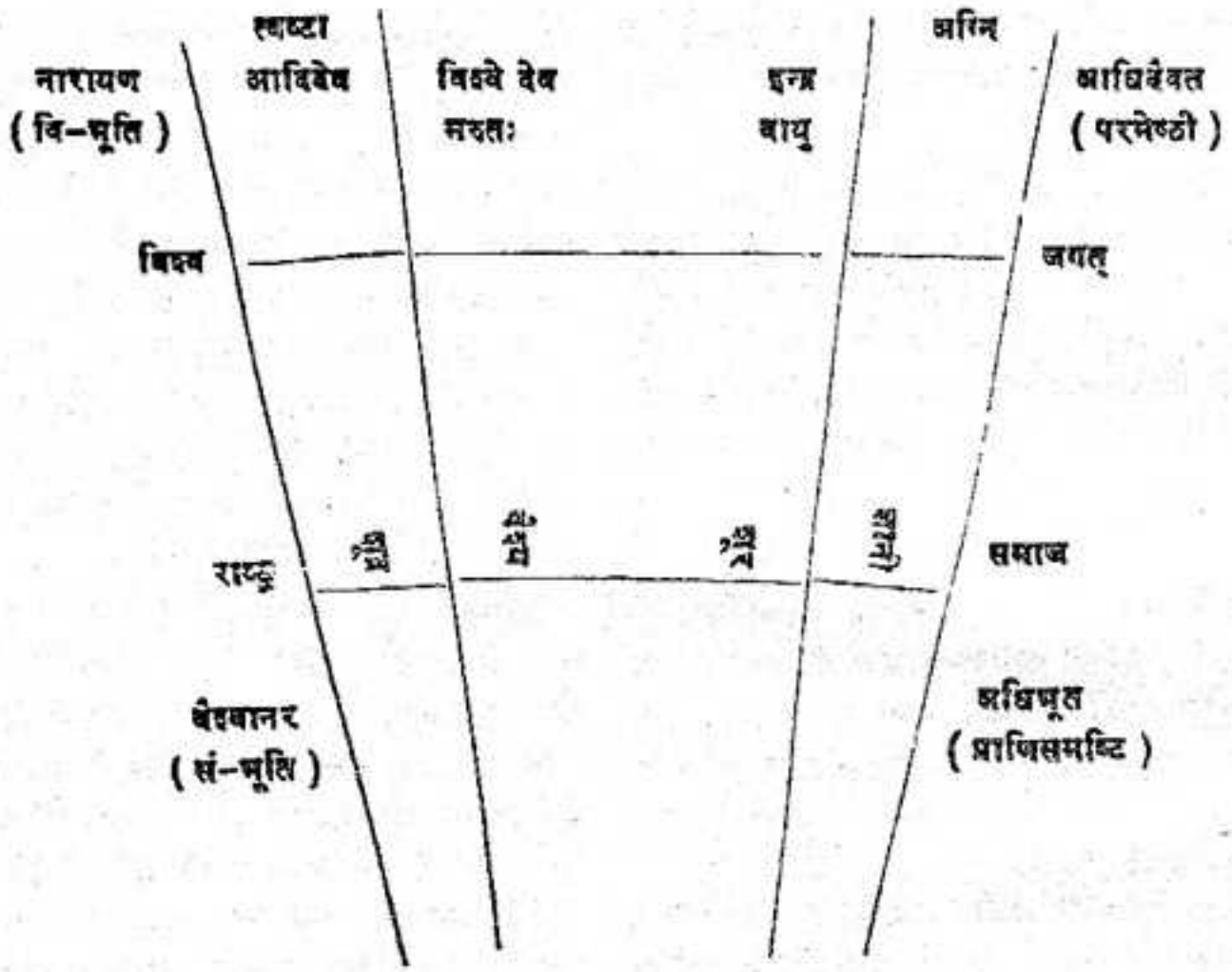

परंतु ज्ञानी लोग वीर्यका संरक्षण करते हैं और सुसंतति निर्माण करने द्वारा अपना और कुलका संवर्धन करते हैं। यही आसुरों और अध्यात्मिकोंमें भेद है।

इसी मंत्रमें "वाण" शब्द "वाणी" का वाचक और "नृतः" शब्द "नाट्य" का वाचक है। मनुष्य जिस समय बोलता है उस समय हाथ पांवसे अंगोंके विक्षेप तथा विशेष प्रकारके आविर्भाव करता है। यही "नृत्" है। भाषणके साथ मनके भाव व्यक्त करनेके लिये अंगोंके विशेष आविर्भाव होने चाहिये, यह आशय यहां स्पष्ट व्यक्त हो रहा है।

मंत्र १८ में जगत्के विषयमें प्रश्न है। भूमि, द्युलोक और पर्वत किसने व्यापे हैं? अर्थात् व्यापक परमात्मा सब जगत्में व्याप्त हो रहा है, यह इसका उत्तर आगे मिलता है। व्यक्तिमें जैसा आत्मा है, वैसा संपूर्ण जगत् में परमात्मा विद्यमान है। पुरुष शब्दसे दोनोंका बोध होता है। व्यक्तिमें जीवात्मा पुरुष है और जगत्में परमात्मा पुरुष है। यह आत्मा कर्म क्यों करता है। यह प्रश्न इस मंत्रमें हुआ है।

मंत्र १९ में यज्ञ करनेका भाव तथा अद्धाका श्रेष्ठ भाव मनुष्यमें कैसा आता है, यह प्रश्न है। पाठक भी इसका बहुत विचार करें, क्योंकि इन गुणोंके कारण ही मनुष्यका श्रेष्ठत्व है। ये भाव मनमें रहते हैं और मनके प्रभावके कारण ही मनुष्य श्रेष्ठ होता है। तथा—

(५) ज्ञान और ज्ञानी।

मंत्र २० में चार प्रश्न हैं और उनका उत्तर मंत्र २१ में दिया है। श्रोत्रियको कैसा प्राप्त किया जाता है? गुरुको किस रीतिसे प्राप्त करना है? इसका उत्तर "ज्ञानसे ही

प्राप्त करना चाहिये" अर्थात् गुरु पहचाननेका ज्ञान शिष्यमें चाहिये। अन्यथा ढोंगी धूर्तके जालमें फंस जाना असंभव नहीं है।

परमात्माको कैसे प्राप्त किया जाता है। इस प्रश्नका उत्तर "ज्ञानसे" ही है, ज्ञानसे ही परमात्माका ज्ञान होता है। "परमेष्ठी" शब्दका अर्थ "परम स्थानमें रहनेवाला आत्मा" ऐसा है। परेसे परे जो स्थान है, उसमें जो रहता है, वह परमेष्ठी परमात्मा है। (१) स्थूल, (२) सूक्ष्म, (३) कारण और (४) महाकारण इससे परे वह है, इसलिये उसको "परमेष्ठी" किंवा "परतमे-ष्ठी" परमात्मा कहते हैं। इसका पता ज्ञानसे ही लगता है। सबसे पहिले अपने ज्ञानसे सद्गुरुको प्राप्त करना है, तत्पश्चात् उस सद्गुरुसे दिव्यज्ञान प्राप्त करके परमेष्ठी परमात्माके जानना होता है।

तीसरा प्रश्न "अग्नि कैसा प्राप्त होता है?" यह है; यहां 'अग्नि' शब्दसे सामान्य आग्नेय भाव लेना उचित है। ज्ञानाग्नि, प्राणाग्नि, आत्माग्नि, ब्रह्माग्नि आदि जो सांकेतिक अग्नि हैं, उनका यहां बोध लेना चाहिये। क्योंकि गुरुका उपदेश और परमात्मज्ञानके साथ संबंध रखनेवाले तेजके भाव ही यहां अपेक्षित है। वे सब गुरुके उपदेशसे प्राप्त होनेवाले ज्ञानसे ही प्राप्त होता है।

चौथा प्रश्न संवत्सरकी गिनतीके विषयमें है। संवत्सर "वर्ष" का नाम है। इससे "काल" का बोध होता है। इसके अतिरिक्त "सं-वत्सर" का अर्थ ऐसा होता है– (सं सम्यक् वसति वासयति वा स सं-वत्सरः) जो उत्तम प्रकार सर्वत्र रहता है और सबको उत्तम रीतिसे बसाता है वह संवत्सर कहलाता है। विष्णुसहस्र-नाममें संवत्सरका अर्थ सर्वव्यापक परमात्मा किया है। "सम्यक् निवास" इतना ही अर्थ यहां अपेक्षित है। सम्यक् निवास अर्थात् उत्तम प्रकारसे रहना सहना किससे होता है? यह प्रश्न है। उसका उत्तर "ज्ञानसे ही उत्तम निवास हो सकता है" अर्थात् ज्ञानसे ही मनुष्य अपना वैयक्तिक और सामुदायिक कर्तव्य जानता है, और ज्ञानसे ही उस कर्तव्यका पालन करता है; तात्पर्य व्यक्ति समाज और जगत्में उत्तम शांतिकी स्थापना उत्तम ज्ञानसे ही होती है। ज्ञान ही सब की सुस्थितिका हेतु है। इस प्रकार इन मंत्रों द्वारा ज्ञानका महत्त्व वर्णन किया है।

ज्ञान गुण आत्माका होनेसे यहां ब्रह्म शब्दसे आत्माका भी बोध होता है, और आत्माके ज्ञानसे यह सब होता है। ऐसा भाव व्यक्त होता है। क्योंकि ज्ञान आत्मासे पृथक् नहीं है। इसी लिये ब्रह्म शब्दके ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, परब्रह्म आदि अर्थ हैं।

(६) देव और देवजन।

मंत्र २२ में "देव" शब्दके तीन अर्थ हैं– (१) इंद्रियां, (२) ज्ञानी शूर आदि सज्जन, (३) और अग्नि इंद्र आदि देवतायें। ये अर्थ लेकर पहिले प्रश्नका अर्थ करना चाहिये। देवोंको अनुकूल बनाना और उनको उत्तम स्थान देना, यह किससे होता है यह प्रश्न है। इसका निम्न प्रकार तात्पर्य है। (१) आध्यात्मिक भाव = (व्यक्तिके देहमें) = किससे इंद्रियों अवयवों और सब अंगोंको अनुकूल बनाया जाता है? और किससे उनका उत्तम प्रकारसे स्वास्थ्यपूर्वक निवास होता है? इसका उत्तर ज्ञानसे इंद्रियोंको अनुकूल बनाया जाता है और उनका निवास उत्तम स्वास्थ्यपूर्वक होनेकी व्यवस्था की जाती है। (२) आधिभौति भाव = (राष्ट्रके देहमें) = राष्ट्रमें देवोंका पंचायतन होता है। एक "ज्ञान-देव" ब्राह्मण होते हैं, दूसरे "बल-देव" क्षत्रिय होते हैं, तीसरे 'धन-देव' वैश्य होते हैं, चौथे "कर्म-देव" शूद्र होते हैं, पांचवे "वन देव" नगरोंसे बाहिर रहनेवाले लोग होते हैं। इन पांचोंके प्रतिनिधि जिस सभामें होते हैं, उस सभाको "पंचायत" अथवा "पंचायतन" कहते हैं और उस सभाके सभासदोंको "पंच" कहते हैं। ये पांचों प्रकारके देव राष्ट्रपुरुषके शरीरमें अनुकूल बनकर किससे रहते हैं? यह प्रश्नका तात्पर्य है। "ज्ञानसे ही सब जन अनुकूल व्यवहार करते हैं, और ज्ञानसे ही सबका योग्य निवास होता है।" यह उक्त प्रश्नका उत्तर है। राष्ट्रमें ज्ञानका प्रचार होनेसे सबका ठीक व्यवहार होता है। इन दोनों मंत्रोंमें "दैवजनीः विशः" ये शब्द हैं, इसका अर्थ "देवसे जन्मी हुई प्रजा" ऐसा होता है। अर्थात् सब प्रजाजनोंकी उत्पत्तिका हेतु देव है। यह सब संतान देवोंकी है। तात्पर्य कोई भी अपने आपको नीच न समझे और दूसरेको भी हीन दीन न माने; क्योंकि सब लोग देवतासे उत्पन्न हुये हैं इसलिये श्रेष्ठ हैं और समान है। इनकी उन्नति ज्ञानसे होती है, (३) आधिदैविक भाव = (जगत्में) = अग्नि, विद्युत्, वायु, सूर्य आदि सब देवताओंको अनुकूल बनाना किससे होता है? और निवासके लिये उनसे सहायता किससे मिलती है। इस प्रश्नका उत्तर भी "ज्ञानसे यह सब होता है," यही है।